प्रसिद्ध लेखक स्वर्गीय बा० राधाकृष्णदास अपने "हिन्दी भाषा के सामयिक पत्रों के इतिहास" में उपर्युक्त विषय पर लिखते हैं—"यद्यपि छापने की विद्या का ठीक सिलसिलेवार पता युरोप ही से लगता है परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इसका बीज भारतवर्ष में बहुत काल पूर्व से था। अँग्रेज़ों के प्रथम गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंगज़ के समय में काशी में एक मुद्रायंत्र गड़ा हुआ मिला था जो कि अनुमान किया जाता है कि एक हज़ार वर्ष से कम का न था। परन्तु मेरा अनुमान है कि या तो यह वस्तु जो काशी में मिली थी मुद्रायंत्र ही न थी बल्कि और कोई वस्तु थी, या यह यंत्र उन चीनी यात्रियों का था जो काशी जी के दर्शन करने, संस्कृत पढ़ने, ग्रन्थों की नकल करने एवं बुद्धदेव की प्राचीन भूमि सारनाथ और तत्सम्बधी प्राचीन बातों को जानने के लिये आते थे। परन्तु ऐसे अक्षरों तथा यंत्रों का आविष्कार जैसे वर्तमान समय में हैं, युरोप में हुआ है। भारतेन्दु बा० हरिश्चन्द्र जी अपनी 'नाटक' नामक पुस्तक में उपर्युक्त विषय पर लिखते हैं कि यद्यपि छापे की विद्या बहुत दिनों से भारतवर्ष में प्रचलित है इसमें कुछ सन्देह नहीं, किन्तु आज कल जैसी इसकी उन्नति है और इससे पत्र और पुस्तकें आदि छप २ कर प्रकाशित होती हैं, यह भी कभी यहाँ था कि नहीं सो कुछ निश्चय नहीं है। श्रीकृष्ण के समय में जब राजा शाल्व ने द्वारावती पुरी पर आक्रमण किया उस समय वहाँ यह बन्दोबस्त किया था कि "नच ऽमुद्रोऽभिनिर्याति नैवान्तः प्रविशेदपि" (महाभारत वनपर्व) अर्थात् बिना राजकीय नाम की मोहर छाप के कोई नगर से निकल नहीं सके और कोई भीतर भी न आवे। यहाँ स्पष्ट ही देख लीजिए कि छापे की मुद्रा से एक जगह के अक्षर दूसरी जगह उतारे जाते थे। मुद्राराक्षस नाटक में भी, जो विशाखदत्त का बनाया है राक्षस नामाङ्कित मुद्रा का वर्णन है। इस प्रकार यद्यपि मुद्रण-विधि का मूल तो आर्य्यशास्त्रों में पाया जाता है, किन्तु इसकी उन्नति करके देशान्तरीय लोगों ने जैसा इससे लाभ उठाया है वैसा भारतीय आर्य्य लोगों ने नहीं उठाया। अतएव यह मुद्रण विद्या देशान्तर ही से चली और विदेशी लोग ही इसके आदि आचार्य हुए, यह बात हमको भी स्पष्ट कहनी पड़ती है।"

यद्यपि छापेका यंत्र बनाने के निमित्त अनेक लोग यश के भागी हो सकते हैं; किन्तु वास्तव में इङ्गलेण्ड देश के हार्लेम नगर में यह यंत्र पहले ही पहले निर्मित हुआ, यह प्रायः सभी स्वीकार करते हैं। उक्त नगर के शासनकर्त्ता लारेन्स कोम्भर ने, सन् १४४८ में इसका निर्माण किया और आद्यप्रादुर्भाव कर्त्ता के निमित्त, सबसे प्रथम वही सम्माननीय हुआ। वह एक दिन, अपने समीपस्थ किसी बगीचे में जाके एक वृक्ष की गीली छाल काट कर उससे अपने नाम के अक्षर बना बना कर एक क्रीड़ा सी कर रहा था, वे ही अक्षर काट काट कर जब उसने एक काग़ज़ पर रख दिए तब उसी समय एक वायु का झोंक आया और उन अक्षरों की, जो उस वृक्ष के रस से गीले हो रहे थे, समस्त आकृति वायुवेग से हठात् उस काग़ज़ पर उभड़ आई। साहब ने जब उक्त घटना देखी तब अपनी विवेचना द्वारा वह और भी अनेक प्रकार की परीक्षाएँ करने लगा; फिर उसने काठ के अक्षर बनाकर एक प्रकार के सघन और द्रव पदार्थ में उनको डुबा के छापा। इससे और भी उत्तम फल देख कर, पीछे उसने शीशा एवं शीशा और राँगा मिली हुई धातु से अक्षर बनाकर उन्हें छापने के लिये एक स्वतंत्र यंत्र निर्माण किया। इस प्रकार तब से अब तक इस उत्तम मुद्रण-विद्या की वृद्धि होती ही चली आती

* When he wanted to print, he took an iron frame divided by perpendicular threads of the same metal, and placing it on the iron plate, ranged his types in it. The plate was then held near the fire, and when the cement was sufficiently melted, a wooden board was pressed tightly upon it, so as to render the surface of the type perfectly even.

Encyclopædia Britannica. Vol. V. Page 662.

है। उक्त लारेन्स साहब के पास उसका एक नौकर "योहन् फ़स्तम्" नामक रहता था। उसने गुप्त भाव से अपने स्वामी की विद्या चुराई और वहाँसे आकर "मेण्डस" नामक नगर में उक्त मुद्रण विद्या का प्रकाश किया। अतएव उस देश में उस नवीन विद्या द्वारा वह विद्वान् और मायावी समझा जाने लगा।

भारतवर्षीय उन्नति के समय तथा यूनान और रोमदेशीय लोगों की उन्नति के समय में भी केवल जो धनी और बड़े आदमी होते थे अथवा अधिक परिश्रम करते थे, वे ही हस्तलिखित पुस्तकों द्वारा विद्या उपार्जन कर सकते थे, किन्तु आज छापे के द्वारा विविध विद्या विभूषित पुस्तकें, सर्वसाधारण को सहज ही में प्राप्त हो सकती हैं, इससे मनुष्य-समाज में नवीन युग सा आविर्भूत हुआ दिखाई देता है। इस प्रकार छापेखाने से जो लाभ हम लोगों को हुआ है वह अवर्णनीय है। *

—:o:—

श्रीयुत रामेन्द्रसुन्दर त्रिवेदी एम. ए.

(लेखिका—श्रीमती बंग-महिला।)

आज से कोई दो सौ वर्ष पहले बंधन (वामदेव) गोत्रज जुझौतिया वंशोद्भव पं ०त हृदयराम त्रिवेदी इस पश्चिम देश से मुर्शिदाबाद के ज़िले के टेया नामक ग्राम में जा बसे थे। उनके प्रपौत्र बलभद्र त्रिवेदी जेमो ग्राम के राज-परिवार में विवाह संबंध कर के वहीं रहने लगे। बलभद्र त्रिवेदी के दो पुत्र हुए, कृष्णसुन्दर और व्रजसुन्दर। ये दोनों भाई बड़े ही धार्म्मिक, सुशील और सर्वलोकप्रिय थे। व्रजसुन्दर महाशय अति विज्ञ पौराणिक थे। उन्होंने वङ्ग भाषा में "माधवसुलोचना" नामक नाटक और "स्वर्गीय सिंदूरसिंह" नामक प्रहसन की रचना की थी। कृष्णसुन्दर महाशय के दो पुत्र हुए। गोविन्दसुन्दर और उपेंद्रसुन्दर। गोविन्दसुन्दर महाशय एक प्रतिभाशाली पुरुष थे। वे अपने देशानुराग और चरित्र बल के कारण अपने समाज के शिरमौर समझे जाते थे; उपेंद्रसुन्दर महाशय दयार्द्र और कोमल स्वभाव के पुरुष थे। उन्होंने निज उदारचरित्र के द्वारा सब को अपना अनुरागी और पक्षपाती बना लिया था। परोपकार तो मानो उनके जीवन का एक मात्र व्रत था। अंग्रेज़ी और संस्कृत भाषा के वे अच्छे पंडित थे। उन्होंने शेक्सपियर के "पेरिक्लिस" नामक नाटक और भारतवर्ष के इतिहास का संस्कृत भाषा में पद्यानुवाद किया था। बाबू रामेंद्रसुन्दर त्रिवेदी के पूर्व पुरुषों के संक्षिप्त परिचय से आप लोग यह बात भली भाँति जान गए होंगे कि चरित्र-नायक महाशय के सभी पूर्व पुरुष विद्या, बुद्धि, प्रतिभा, स्वदेशानुराग, और उदारता के हेतु चिरकाल से प्रसिद्धि और सुख्याति-प्राप्त थे। अस्तु, ऐसे उच्च गुणसम्पन्न गृह में माननीय रामेंद्रसुन्दर त्रिवेदी ऐसे विद्वान् और प्रतिभाशाली महानुभाव का आविर्भाव हो तो इसमें आश्चर्य्य ही क्या है?

गोविन्दसुन्दर महाशय के भी दो पुत्र हुए। प्रथम हमारे चरित्र-नायक रामेंद्रसुन्दर और दूसरे दुर्गादास (वर्त्तमान) हैं। रामेन्द्रसुन्दर १८६४ ई० में उत्पन्न हुए थे। अर्थात् इस समय उक्त महाशय की अवस्था ५० वर्ष की है।

उक्त त्रिवेदी महाशय ने एक छोटे से प्रबन्ध में अपना जो कुछ आत्म-परिचय दिया है उसीको लेकर मैं अपने शब्दों में लिखती हूँ जिससे भली भाँति प्रगट हो जायगा कि उक्त माननीय सज्जन किस गौरव, क्षमता और योग्यता के पुरुष हैं।

* पत्रिका के गतांक में मैंने "गुजराती समाचार-पत्रों का इतिहास" शीर्षक एक लेख लिखा था। उसमें मैंने मुद्रण-कला-सम्बन्धिनी अनेक बातें लिखी थीं। उसीसे सम्बन्ध रखनेवाली उपर्युक्त बातें मुझे पीछे से मालूम हुईं जो यहाँ दी जाती हैं।

सांवल जी नागर।

ये छः वर्ष की अवस्था में अपने गाँव ही के मिडिल स्कूल में भर्ती हुए थे। इनके पूज्य पिता गोविन्द-सुन्दर महाशय बारबार यही कहा करते—"वार्षिक परीक्षा में सब से प्रथम स्थान प्राप्त करना तुम्हारे लिए कोई गौरव की बात न होगी। पर साथ ही जालसाजी करके उक्त स्थान पाने की चेष्टा करना भी कम 'लज्जा' की बात न होगी।" उसी समय इनके हृदय में स्वधर्मानुराग और स्वदेश भक्ति का भी बीज अङ्कुरित हुआ। विज्ञानानुराग का उत्पन्न होना भी उसी अवस्था की पितृ-दत्त शिक्षा का फल है। इनके पूज्य पिता ज्योतिष और गणितशास्त्र में असामान्य अधिकार रखते थे। इससे बाल्यावस्था ही में इन्होंने भी उक्त शास्त्रों में अच्छी जानकारी प्राप्त कर ली। पाठशाला की वार्षिक परीक्षा में प्रतिवर्ष प्रथम पुरस्कार इन्हींको प्राप्त होता रहा। बँगला भाषा की मिडिल परीक्षा में ज़िले भर में प्रथम स्थान और वृत्ति इन्हींको प्राप्त हुई। इसी समय इन्हें बंग भाषा के पुस्तकावलोकन का भी अनुराग उत्पन्न हुआ था। इसके अनंतर इन्हीं ने कांदी गाँव के अँग्रेज़ी स्कूल में नाम लिखाया, पहले वर्ष की परीक्षा में दूसरा नंबर पाने से इनके पिता को कुछ खेद हुआ था, परंतु भविष्य में पितृ-भक्त होनहार पुत्र ने पुनः ऐसा अवसर न आने दिया कि जिससे पूज्य पिता के हृदय को दुःख पहुँचता। जिस समय ये अंग्रेज़ी स्कूल में पढ़ने लगे थे उसी समय बंग भाषा की कविता भी रचने लगे थे। जिस समय यह इन्ट्रेन्स परीक्षा देने को प्रस्तुत हो रहे थे उसी समय इनके पूज्य पिता का स्वर्गवास हो गया। इस शोकदायक दुर्घटना से इनका जी टूट गया और परीक्षा में पास होने की आशा जाती रही। १८८१ ई० में इन्ट्रेन्स परीक्षा में ये प्रथम हुए और २५) स्कालरशिप (छात्रवृत्ति) प्राप्त करके उक्त परीक्षा पास कर लेने पर ये अपने चाचाजी के साथ कलकत्ता, प्रेसीडेन्सी कालेज में जाकर भर्ती हुए। उस समय इनका पढ़ने में चित्त नहीं लगता था। पाठ्य पुस्तकें (Text Books) न पढ़ कर और और अंग्रेज़ी साहित्य और इतिहासादि की पुस्तकें पढ़ते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रथम वार्षिक परीक्षा (First year) में ये सेकेन्ड (दूसरे) हुए। पर इस बार भी २५) का स्कालरशिप और एक सोने का मेडल इन्होंने (पदक) प्राप्त किया। १८८४ ई० में पूज्य चाचाजी के देहान्त हो जाने से ये फिर हतोत्साह हो गए जिससे बी० ए० परीक्षा के समय जी लगा कर नहीं पढ़ सके थे। उसी समय इन्हें विज्ञान (साइन्स) शास्त्र में आनर (Honour) सहित प्रथम स्थान और ४०) का स्कालरशिप मिला। उन्हीं दिनों नवजीवन नामक बँगला मासिक पुस्तक में इनका पहला प्रबंध प्रकाशित हुआ। इसके पूर्व इन्होंने दो एक प्रबंध बिना नाम के भी लिखे थे। दूसरे साल ये पदार्थ-विद्या और रसायन शास्त्र में एम. ए. परीक्षा देने को प्रस्तुत हुए। रसायन शास्त्र के अध्यापक पेडलर साहब इनकी एक क्लास एक्सरसाइज़ (Class exercise) देख कर इनपर अत्यंत प्रसन्न हुए थे और उसी समय उन्होंने इन्हें "प्रेमचंद, रायचंद," वृत्ति पाने के हेतु उत्साहित किया। बी. ए. परीक्षा में पेडलर साहब रसायन के परीक्षक थे। इनके पर्चे के विषय में उन्होंने उसी दिन अपना अभिप्राय क्लास के सामने प्रकट किया "मैंने अभी तक जितने रसायन के प्रश्नोत्तर पत्र देखे हैं उनमें यह—Out of the way the best है।" पेंडलर साहब के उपर्युक्त वाक्य से उत्साहित हो कर ये उक्त वृत्ति प्राप्त करने के हेतु तैयार होने लगे। १८८७ ई० में एम. ए. की परीक्षा दी; इस परीक्षा में भी प्रथम स्थान प्राप्त कर फिर सोने का पदक और १००) की पुस्तकें इन्होंने पारितोषिक में पाईं। १८८८ ई० में इन्होंने पदार्थ विद्या और रसायन शास्त्र ले कर दूसरे वर्ष "प्रेमचंद रायचंद" स्कालरशिप पाई। परीक्षकों का यह मन्तव्य था कि;—"The candidate who took up Physics and Chemistry is perhaps the best student that has yet taken up these subjects at this examination." अर्थात् अब तक रायचंद प्रेमचंद परीक्षा के लिए जितने छात्रों

ने फ़िज़िक्स (Physics) और केमिष्ट्री (Chemistry) ली है उन सभों में मालूम होता है यही सर्वश्रेष्ठ हैं। इसके अनन्तर दो साल तक प्रेसीडेन्सी कालेज के वैज्ञानिक यन्त्रालय (Laboratory) में इन्होंने बिना फ़ीस दिये विज्ञान चर्चा करने की अनुमति पेडलर साहब से प्राप्त की। १८९० ई० में यह इन्ट्रेन्स परीक्षा के परीक्षक नियुक्त हुए। ४ वर्ष के उपरान्त एफ़० ए० के परीक्षक हुए और तदनन्तर पाँच वर्ष के उपरान्त इन्ट्रेन्स के प्रधान परीक्षक (हेड इग्ज़ामिनर) नियत हुए और तब से उसी पद पर नियुक्त हैं।

१८९२ ई० में ये सुप्रसिद्ध रिपन कालेज में विज्ञानाध्यापक (प्रोफ़ेसर आफ़ साइन्स) हुए फिर उक्त कालिज के अध्यक्ष (प्रिन्सिपल) कृष्णकमल बाबू के पद परित्याग करने पर उनका पद इन्हें मिला जिसे आज तक ये सुख्याति के साथ सुशोभित कर रहे हैं।

कालिज के बाहर ये बहुधा विज्ञान शास्त्र अथवा दर्शन शास्त्र की आलोचना किया करते हैं। "साधना" नामक बँगला मासिकपत्र के निकलने के समय से इन्होंने बँगला प्रबंधों का लिखना आरंभ किया था। १८९६ ई० में निज लिखित वैज्ञानिक प्रबंधों को एकत्रित करके इन्हों ने "प्रकृति" नामक पुस्तक प्रकाशित की और १९०३ ई० में निज लिखित दार्शनिक प्रबंधों का संग्रह करके "जिज्ञासा" नामक पुस्तक प्रकाशित की। अभी इनके सामाजिक प्रबंध पुस्तक रूप में नहीं प्रकाशित हुए हैं। "प्रकृति" और "जिज्ञासा" के अतिरिक्त "बँगला संक्षिप्त इतिहास" और "पत्राली" नामक और दो पुस्तकें भी आप की लिखी हैं। गत वर्ष वंगविच्छेद के उपलक्ष में आप ने "बंग लक्ष्मीर व्रतकथा" (सत्यनारायण व्रत कथा की भाँति) नामक एक छोटी सी पुस्तिका लिखी है। उसकी कथा बड़ी ही रोचक है। १९०५ ई० के १६ अक्टूबर को इनकी विदुषी कन्या ने अपने विष्णु मंदिर में पाँच हज़ार से अधिक वंग ललनाओं के सामने इसका पाठ करके सुनाया था। तभी से १६ अक्टूबर को वंग ललनाएँ उक्त पुस्तक के लिखे अनुसार व्रत धारण कर के उक्त कथा को श्रद्धा के साथ सुनती हैं। इस पुस्तक का यहाँ तक प्रचार हुआ कि एक ही साल में इसके दो संस्करण हो गए और किसी संवादपत्र में संस्कृत में भी उसका अनुवाद होकर प्रकाशित हो गया।

१८९४ ई० में 'वंगीय साहित्य परिषद्" नामक सभा स्थापित हुई; तब से ये निरंतर उसकी उन्नति की चेष्टा में दत्तचित्त रहते हैं। आज तक उक्त परिषद् ने जो कुछ उन्नति की है वह सब इन्हीं के अध्यवसाय, परिश्रम और उद्योग का फल है। उक्त परिषद् के द्वारा प्राचीन वंग साहित्य का बड़ा भारी उपकार हुआ है। १८९८ से १९०३ तक ये "परिषद्पत्रिका" (उक्त सभा से निकलनेवाली त्रैमासिक पुस्तक) के अवैतनिक सम्पादक रह चुके हैं। उक्त पत्रिका में प्रायः समय समय पर इनके उच्च विचारपूर्ण प्रबंध प्रकाशित हुआ करते हैं। प्राचीन वंग साहित्य में इनका अच्छा प्रवेश है। इन्होंने अनेक प्राचीन ग्रंथकारों की लुप्त कीर्त्ति का उद्धार किया है।

प्राचीन वङ्ग भाषा की कविताओं पर इनकी बड़ी ही मधुर और सारगर्भित आलोचनाएँ होती हैं। इनके प्रबंध वङ्ग भाषा के भिन्न भिन्न मासिकपत्रों में तो आदर के साथ दिए ही जाते हैं, साथ ही, सुना है, अंग्रेज़ी भाषा की प्रसिद्ध मासिक पुस्तकों में भी इनके प्रबंध निकला करते हैं। संस्कृत भाषा के ये पूर्ण पंडित हैं। आधुनिक सभ्यता, शिष्टता, सौजन्य और सदाचार आदि उत्तम गुण तो इनके जीवन के प्रधान भूषण हैं। अति क्लिष्ट वैज्ञानिक और दार्शनिक गूढ़ विषयों को ये सरलता और सुगमता से समझा देते हैं। मैं सुनती हूँ ये बड़े ही सभ्य, सज्जन, सदाचारी, उदारचरित्र और मिलनसार मनुष्य हैं। निज लिखित जीवनी के अंत में पं० रामेन्द्रसुन्दर बहुत विनय और नम्रता के साथ लिखते हैं "बँगला साहित्य" और उसके द्वारा यथासाध्य स्वजाति की सेवा करते करते जीवनान्त

हो, बस यही मेरी प्रार्थना है।" उपर्युक्त वाक्यों से रामेन्द्र बाबू के आन्तरिक उच्च विचार भली भाँति प्रकट होते हैं। ये साहित्य, समाज और स्वजाति के कैसे भक्त हैं, इस बात के साक्षी इन महानुभाव के ऊपर दिए हुए वाक्य ही हैं। आप अपने पूर्व पुरुषों की मातृभाषा हिन्दी को बिलकुल भूल नहीं गए हैं; समय समय पर इसके कामों में भी सहायता किया करते हैं। काशी नागरीप्रचारिणी सभा के वैज्ञानिक कोश को संशोधन और उचित परामर्श द्वारा इन्होंने उत्तम सहायता दी है। पर आज कल ये बँगला को राष्ट्रभाषा बनाने के उद्योग में लगे हुए हैं। माननीय शारदाचरण मित्र बी० ए० (जस्टिस, कलकत्ता हाईकोर्ट) द्वारा स्थापित "एक लिपि-विस्तार-परिषद्" के आप प्रधान हैं।

बंगाली विद्वत् समाज में इन की बड़ी प्रतिष्ठा है। बड़े बड़े विद्वान् इनके साथ मित्रता का व्यवहार रखते हैं। विद्या, बुद्धि और प्रतिभा के कारण इनको बहुत लोग सन्मान और प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखते हैं और इनकी उच्च विचारपूर्ण सम्मति आदर के साथ ग्रहण करते हैं। मेरी समझ में ऐसे ही गुण सम्पन्न महानुभाव देश और समाज के लिए पूजनीय हो सकते हैं और स्वजातिवालों की तो कोई बात ही नहीं; उनके लिए तो ये गौरव के स्तम्भ स्वरूप हैं। एक बात और भी कह देना अनुचित न होगा कि माननीय रामेन्द्रसुंदर त्रिवेदी एम. ए. महाशय चिरकाल से प्रवासी होने के कारण एक प्रकार बंगवासी से हो गए हैं। उनके परिवारादि की रहन सहन रीति नीति, चाल चलन, खान पान और परिधानादि सब बंगालियों के समान ही हैं। अर्थात् उक्त महाशय को देख कर किसीको यह कहने का साहस न होगा कि यह बंगवासी नहीं, बुंदेल खंड-वासी हैं।

—:o:—

मनोविकारों का विकाश।

आनन्द कोटि।

आरम्भ ही में कहा जा चुका है कि प्राणियों के अन्तःकरण के मूल मनोवेग दो हैं—दुःख और आनन्द। आगे चल कर इन्हीं दोनों मनोवेगों के, अवस्था-ज्ञान के अनुसार, कई रूप हो जाते हैं जो एक दूसरे से इतने विभिन्न जान पड़ते हैं कि उनके लिए अलग अलग नाम संसार की प्रत्येक भाषा में रक्खे गए हैं। ज्ञानेन्द्रियों और अन्तःकरण-वृत्तियों की प्रौढ़ता और समाजिक सम्पर्क की वृद्धि के साथ साथ मनोवेगों की अनेकरूपता का विकाश होता है। हानि के कारण में चेतनता का परिज्ञान होने पर हमारा काम उस मूल मनोवेग से नहीं चल सकता जिसे दुःख कहते हैं बलिक उसके क्रोध नामक रूपान्तर की आवश्यकता होती है। जब हमारी इन्द्रियाँ दूर से आती हुई क्लेशकारिणी वस्तु का पता देने लगती है, जब हमारा अन्तःकरण हमें भावी आपदा का अनुमान कराने लगता है तब हमारा काम निष्क्रिय दुःख से नहीं चलता बलिक भागने या बचने की प्रेरणा करनेवाले भय से चलता है। जिस वस्तु से सुख मिलता है उसके विषय में केवल सीधा सादा आनन्द प्राप्त करके जंगम प्राणी संतुष्ट नहीं रह सकता; वह उसकी प्राप्ति वा रक्षा की उत्तेजना करनेवाले लोभ वा प्रेम के वशीभूत अवश्य होगा। अपने मूल रूप में दुःख और आनन्द दोनो निष्क्रिय हैं। न एक में निराकरण की प्रेरणा की शक्ति है और न दूसरे में प्राप्ति की उत्तेजना की। शुद्ध दुःख में हम बहुत करेंगे हाथ पैर पटकेंगे, रोएँगे, और चिल्लायँगे, इसी प्रकार शुद्ध आनन्द में हम बहुत करेंगे दाँत निकाल कर हँसेंगे और कूदेंगे। पर इस रोने पटकने और दाँत निकालने ही से तो काम चलता नहीं। हम कितना ही उछल कूद

कर हँसें, कितना ही सिर पटक कर रोवें पर इस हँसने रोने को प्रयत्न नहीं कह सकते। ये आनन्द और दुःख के अनिवार्य्य लक्षण मात्र हैं जो अनिच्छा रहते भी प्रकट हो जाते हैं। इच्छा के बिना प्रयत्न नहीं हो सकता।

मूल दुःख और आनन्द के साथ जब इच्छा का संयोग होता है तब उसी इच्छा की अनेकरूपता के अनुसार उन मूल मनोवेगों के क्रोध, भय, करुणा, प्रेम आदि भिन्न भिन्न रूपों का विकाश होता है और भिन्न भिन्न प्रयत्न देखे जाते हैं। जब प्राणी को स्थिति की वर्त्तमानता में उसके अभाव के अनुमान की सामर्थ्य वा अभ्यास हो जाता है तभी इच्छा का प्रादुर्भाव होता है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि तुरंत का जन्मा बच्चा जो भूख लगने पर रोता है तो क्या उसे भी खाली पेट रहने पर भरे पेट की अवस्था का अनुमान होता है? मैं समझता हूँ नहीं, उसका रोना केवल उसके दुःख का चिह्न मात्र है, प्राप्ति का प्रयत्न नहीं है। दुःख के चिह्न को देख कर हम दूध पिला कर उसका दुःख दूर करते हैं। इस लक्षण-क्रिया का कुछ अनुकूल फल है अतः उसके फल की पूर्ववर्त्तिनी इच्छा कहीं अवश्य है, पर वह बच्चे में नहीं है उसके बाहर है। इच्छा के विकाश के लिए संवेदना के अतिरिक्त स्थिति के अपरत्व की भावना भी आवश्यक जान पड़ती है।

यह पहले कहा जा चुका है कि दुःख के जितने अधिक विभाग हुए हैं उतने आनन्द के नहीं, तथा दुःख के विभागों की परस्पर विभिन्नता जितनी स्पष्ट देख पड़ती है उतनी सुख के विभागों की नहीं। आनन्द की कोटि में उत्साह, भक्ति, तथा प्रेम वा लोभ ही ऐसे मनोवेग हैं जिनके लक्षण परस्पर भिन्न देख पड़ते हैं। इनमें सबसे पहले हम उत्साह को लेते हैं।

उत्साह।

दुःख की कोटि में जो स्थान भय का है आनन्द की कोटि में वही स्थान उत्साह का है। भय से हम आगामी दुःख के निश्चय से दुखी और प्रयत्नवान् भी होते हैं, उत्साह में हम आगामी सुख के निश्चय से सुखी और अवश्य प्रयत्नवान् होते हैं। मूल दुःख से भय की विभिन्नता प्रयत्नावस्था और अप्रयत्नावस्था दोनों में स्पष्ट देख पड़ती है पर आगामी सुख के निश्चय का प्रयत्नशून्य आनन्द मूल आनन्द से कुछ इतना भिन्न नहीं जान पड़ता। यदि किसी भावी आपत्ति की सूचना पाकर कोई एक दम ठक हो जाय कुछ भी हाथ पैर न हिलावे तो भी उसके दुःख को साधारण दुःख से अलग कर के भय की संज्ञा दी जायगी, पर यदि किसी प्रिय मित्र के आने का समाचार पाकर हम चुपचाप आनन्दित हो कर बैठे रहें वा थोड़ा हँस भी दें तो यह हमारा उत्साह नहीं कहा जायगा। हमारा उत्साह तभी कहा जायगा जब हम अपने मित्र का आगमन सुनते ही उठ खड़े होंगे, उससे मिलने के लिए चल पड़ेंगे और उसके ठहरने इत्यादि का प्रबन्ध करने के लिए प्रसन्नमुख इधर से उधर दौड़ते दिखाई देंगे। प्रयत्न वा चेष्टा उत्साह का अनिवार्य्य लक्षण है। प्रयत्न-मिश्रित आनन्द ही का नाम उत्साह है। हँसना, उछलना, कूदना आदि आनन्द के उल्लास की उद्देश्य-विहीन क्रियाओं को प्रयत्न नहीं कह सकते। उद्देश्य से जो क्रिया की जाती है उसी को प्रयत्न कहते हैं। जिसकी प्राप्ति से आनन्द होगा उसकी प्राप्ति के निश्चय से उत्पन्न जिस आनन्द के साथ हम प्राप्ति की साधन-क्रिया में प्रवृत्त होते हैं उसे तो उत्साह कहते ही हैं, इसके अतिरिक्त सुख के निश्चय पर उसके उपभोग की तैयारी वा प्रयत्न जिस आनन्द के साथ करते हैं उसे भी उत्साह कहते हैं। साधन-क्रिया में प्रवृत्त होने की अवस्था में प्राप्ति का निश्चय प्रयत्ना-धीन वा कुछ अपूर्ण रहता है। उपभोग की तैयारी में प्रवृत्त होने की अवस्था में प्राप्ति का निश्चय स्वप्रयत्न से स्वतंत्र अतः अधिक पूर्ण रहता है। पहली अवस्था में यह निश्चय रहता है कि यदि हम यह कार्य्य करेंगे तो यह सुख प्राप्त होगा। दूसरी में यह निश्चय रहता है कि वह सुख हमें प्राप्त ही होगा

अतः हम उसकी प्राप्ति के प्रयत्न में नहीं बल्कि उपभोग के प्रयत्न में प्रवृत्त होते हैं। किसी ने कहा कि यदि तुम यह काम कर दोगे तो तुम्हें यह वस्तु देंगे। इसपर यदि हम उस काम में लग गए तो यह हमारी प्राप्ति का प्रयत्न है। यदि किसी ने कहा कि तुम्हारे अमुक मित्र आ रहे हैं और हम प्रसन्न हो कर उनके ठहराने आदि की तैयारी में इधर से उधर दौड़ने लगे तो यह हमारा उपभोग का प्रयत्न या उपक्रम है। कभी कभी इन दोनो प्रयत्नों की स्थिति पूर्वापर होती है अर्थात् जिस सुख की प्राप्ति की आशा से हम उत्साहपूर्ण प्रयत्न करते हैं उसकी प्राप्ति के अत्यन्त निकट आ जाने पर हम उसके उपभोग के उत्साहपूर्ण प्रयत्न में लगते हैं। फिर जिस क्षण वह सुख प्राप्त हो जाता है उसी क्षण से उत्साहकी समाप्ति और मूल आनन्द का आरम्भ हो जाता है।

ऊपर के विवरण से यह बात मन में बैठ गई होगी कि जो आनन्द सुखप्राप्ति से साधन-सम्बन्ध वा उपक्रम-सम्बन्ध रखनेवाली क्रियाओं में देखा जाता है उसी का नाम उत्साह है। पर मनुष्य का अन्तःकरण एक है इससे यदि वह किसी एक विषय में उत्साहपूर्ण रहता है तो कभी कभी अन्य विषयों में भी उस उत्साह की झलक दिखाई दे जाती है। यदि हम कोई ऐसा कार्य्य कर रहे हैं जिससे आगामी सुख का पूरा निश्चय है तो हम उस कार्य्य को तो उत्साह के साथ करते ही हैं अन्य कार्य्यों में भी प्रायः अपना उत्साह दिखा देते हैं। यह बात कुछ उत्साह ही में नहीं अन्य मनोवेगों में भी बराबर देखी जाती है। यदि हम किसी पर क्रुद्ध बैठे हैं और इसी बीच में कोई दूसरा आकर हमसे कोई बात पूछता है तो उसपर भी हम झुंझला उठते हैं। इस झुंझलाहट का कोई निर्दिष्ट लक्ष्य नहीं। यह केवल क्रोध की स्थिति के व्याघात को रोकने की क्रिया है, क्रोध की रक्षा का प्रयत्न है। इस झुंझलाहट द्वारा हम यह प्रकट करते हैं कि हम क्रोध में हैं और क्रोध ही में रहना चाहते हैं। इस क्रोध को बनाए रखने के लिए हम उन बातों से भी क्रोध ही संग्रह करते हैं जिनसे दूसरी अवस्था में हम विपरीत भावों को ग्रहण करते। यदि हमारा चित्त किसी विषय में उत्साहित है तो हम अन्य विषयों में भी अपना उत्साह प्रकट कर सकते हैं। यदि हमारा मन बढ़ा हुआ है तो हम बहुत से काम प्रसन्नतापूर्वक करने के लिए तैयार हो सकते हैं। इस व्यापार को हम मनोवेगों द्वारा स्वरक्षा का प्रयत्न कह सकते हैं। इसी का विचार करके सलाम करनेवाले लोग हाकिमों से मुलाक़ात करने के पहले अर्दलियों से उनका मिज़ाज पूछ लिया करते हैं।

उत्साह उपयुक्त कर्म के साथ ही अनुकूल फल का आरम्भ है जिसकी प्रेरणा से कर्म में प्रवृत्ति होती है। यदि फल दूर ही पर रक्खा दिखाई पड़े, उसके परिज्ञान के साथ ही उसका लेश मात्र भी कर्म वा प्रयत्न के साथ साथ लगा हुआ न मालूम पड़े तो हमारे हाथ पावँ कभी न उठें और उस फल के साथ हमारा संयोग ही न हो। इससे किसी फल के आध्यात्मिक अंश का किञ्चित् संयोग उसी समय से होने लगता है जिस समय हमें उसकी प्राप्ति की सम्भावना विदित होती है और हम प्रयत्न में अग्रसर होते हैं। यदि हमें यह निश्चय हो कि अमुक स्थान पर जाने से हमें किसी प्रिय व्यक्ति का दर्शन होगा तो हमारे चित्त में उस निश्चय-कर्म का फल स्वरूप एक ऐसा आनन्द उमड़ेगा जो हमें बैठा न रहने देगा। हम चल पड़ेंगे और हमारे अंग की प्रत्येक गति में प्रफुल्लता दिखाई देगी। इसी प्रफुल्लता के बल पर हम कर्मों की उस शृंखला को पार कर सकते हैं जो फल तक पहुँचाती है। फल की इच्छा मात्र से जो प्रयत्न किया जायगा वह अभावमय और आनन्दशून्य होने के कारण स्थायी नहीं होगा। कभी कभी उसमें इतनी आकुलता होगी कि वह उत्तरोत्तर क्रम का निर्वाह न कर सकने के कारण बीच ही में चूक जायगा। मान लीजिए कि एक ऊँचे पर्वत के शिखर पर विचरते हुए किसी व्यक्ति को बहुत दूर नीचे तक गई हुई

सीढ़ियाँ दिखाई दीं और यह मालूम हुआ कि नीचे उतरने पर सोने की खान मिलेगी। यदि उसमें इतनी सजीवता है कि इस सूचना के साथ ही वह उस स्वर्ण के साथ एक प्रकार का संयोग अनुभव करने लगा तथा उसका चित्त प्रफुल्लित और शरीर क्रियमाण हो गया तो उसे एक एक सीढ़ी स्वर्णमयी दिखाई देगी, एक एक सीढ़ी उतरने में उसे आनन्द मिलेगा, एक एक क्षण उसे सुख से बीतता हुआ जान पड़ेगा और वह प्रसन्नता के साथ उस खान तक पहुंचेगा। उसके प्रयत्न-काल को भी फल-प्राप्ति-काल के अन्तर्गत ही समझना चाहिए। इसके विरुद्ध यदि उसका हृदय दुर्बल होगा और उसमें इच्छा मात्र ही उत्पन्न हो कर रह जायगी तो अभाव के बोध के कारण उसके चित्त में यही होगा कि कैसे झट से नीचे पहुँच जायँ। उसे एक एक सीढ़ी उतरना बुरा मालूम होगा और आश्चर्य्य नहीं कि वह या तो हार कर लौट जाय अथवा अड़बड़ा कर मुँह के बल गिर पड़े।

इसी से कर्म के साथ ही साथ उसके फल के अनुभव का अभ्यास बढ़ाने का उपदेश भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने फलासंग-शून्य कर्म के सिद्धान्त द्वारा इस प्रकार दिया है।

> त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
> कर्मण्यभिप्रवृत्तोपि नैव किञ्चित्करोति सः॥

फल की विशेष आसक्ति से कर्म के लाघव की वासना उत्पन्न होती है, चित्त में यही आता है कि कर्म बहुत कम करना पड़े और फल बहुत सा मिल जाय। श्रीकृष्ण के लाख समझाने पर भी भारत-वासी इस वासना से ग्रस्त हो कर कर्म से उदासीन हो बैठे और फल के इतने पीछे पड़े कि गरमी में ब्राह्मण को एक कुम्हड़ा देकर पुत्र की कामना करने लगे, चार आने रोज़ का अनुष्ठान बैठा कर व्यापार में लाभ, शत्रु पर विजय और न जाने क्या क्या चाहने लगे। आसक्ति प्राप्ति वा उपस्थित वस्तु में होनी चाहिए। कर्म सामने उपस्थित रहता है इससे उसी में आसक्ति चाहिए, फल दूर रहता है इससे उसकी इच्छा ही काफ़ी है। जिस आनन्द से कर्म की उत्तेजना मिलती है, वा जो आनन्द कर्म करते समय मिलता है वही उत्साह है। कर्म के मार्ग पर आनन्दपूर्वक चलता हुआ उत्साही मनुष्य यदि अंतिम फल तक न भी पहुंचे तो भी उसकी दशा कर्म न करनेवाले की अपेक्षा, अधिक अवस्थाओं में अच्छी रहेगी क्योंकि एक तो कर्म-काल में जितना उसका जीवन बीता वह सुख में बीता; इसके उपरान्त फल की अप्राप्ति पर भी उसे यह पछतावा न रहा कि मैंने यह प्रयत्न नहीं किया। लोग कह सकते हैं कि जिसने निष्फल प्रयत्न करके अपनी शक्ति और धन आदि का कुछ ह्रास किया उसकी अपेक्षा वह अच्छा जो किनारे रहा। पर फल पहले से कोई बना बनाया तैयार पदार्थ नहीं होता। अनुकूल साधन-क्रम के अनुसार उसके एक एक अंग की योजना होती है। इससे बुद्धि द्वारा पूर्ण रूप से निश्चित किए हुए उपयुक्त साधन ही का नाम प्रयत्न है। किसी मनुष्य के घर का कोई प्रिय प्राणी बीमार है। वह वैद्य के यहाँ से जब तक औषध ला ला कर रोगी को देता है और इधर उधर दौड़ धूप करता है तब तक उसके चित्त में जो सन्तोष रहता है वह उसे कदापि न प्राप्त होता यदि वह रोता हुआ बैठा रहता। इसके अतिरिक्त रोगी के न अच्छे होने की अवस्था में भी वह उस आत्मग्लानि के कठोर दुःख से बचा रहेगा जो उसे जीवन भर यह सोच सोच कर होता कि मैंने पूरा प्रयत्न नहीं किया। कर्म में आनन्द अनुभव करनेवालों ही का नाम कर्मण्य है। धर्म और उदारता के जो महत्कर्म्म होते हैं उनके अनुष्ठान में एक ऐसा अपार आनन्द भरा रहता है कि कर्त्ता को वे कर्म ही फल-स्वरूप प्रतीत होते हैं। अत्याचार को दमन करने तथा क्लेश को दूर करने का प्रयत्न करते हुए चित्त में जो उल्लास और सन्तोष होता है वही लोकोपकारी कर्मवीर का सच्चा सुख है। उसके लिए सुख तब तक के लिए रुका नहीं रहता जब तक कि फल प्राप्त न हो जाय, बल्कि उसी समय से थोड़ा थोड़ा करके मिलने लगता है जब वह कार्य्य आरम्भ करता है।

आशा और उत्साह में जो अन्तर है उसे भी विचार लेना चाहिए। आशा में सुख के निश्चय की अपूर्णता के कारण क्रियमाणता नहीं होती पर उत्साह में क्रिया वा चेष्टा का होना ज़रूरी है। लोग बैठे बैठे वा लेटे लेटे भी आशा करते हैं पर उत्साहित हो कर कोई पड़ा नहीं रहता।

—:०:—

सदाचरण और उत्तम प्रकृति।

सृष्टि के आरंभ से आज तक जिस सदाचरण की प्रशंसा होती आई है, जिसके अनुयायियों के नाम बात चीत में नित्य दो एक बार आते हैं, जिसके अतुल प्रभाव से भगवान् को दौड़ दौड़ कर कई बेर इस पृथ्वी पर आना पड़ा है, वह सदाचरण क्या है? इस बात के जानने के हेतु यत्न करना हमारे समय—संयमी पाठकों को कदाचित न खलेगा। एक ग्रंथकार कहता है "अच्छा गणितज्ञ होना, अच्छा कवि होना सहज है, किंतु अच्छा मनुष्य होना बड़ा कठिन है।" कोई आवश्यक नहीं कि मनुष्य उत्तम कवि वा दार्शनिक हो पर यह उसका प्रधान कर्त्तव्य है कि वह सात्विकशील हो। उत्तम प्रकृति मनुष्य का भूषण है। अकेले एक इसी गुण की संपन्नता से मनुष्य सब धनियों से धनी, सब विद्वानों से विद्वान् और सब भाग्यमानों से भाग्यमान है। संभव है कि यह कुटिल संसार उसका यथावत् आदर न करे, पर उसका सम्मान स्वयं उसकी आत्मा करेगी, जिसके बिना मनुष्य लक्षाधिप वा सर्वविद्या विशारद हो कर भी एक राह के भिखमंगे और गाँव के गँवार से भी हीन है।

एडिसन लिखता है "उत्तम प्रकृति की मनुष्यों को इतनी आवश्यकता देख पड़ी कि उन्हें सामाजिक व्यवहार में सुगमता लाने के लिए एक कृत्रिम उत्तम प्रकृति का आविष्कार करना पड़ा जिसका नाम उन्होंने शिष्टाचार रक्खा।" इसी शिष्टाचार की बदौलत हमें ऐसे लोगों के श्रीमुख से भी "आइए, आइए, बिराजिए, बिराजिए" इत्यादि कोमल वाक्य सुनने को मिलते हैं जिनकी आन्तरिक इच्छा यही रहती है कि 'जाव जाव, उठो उठो।' इससे उस कलह और उपद्रव का बचाव होता है जिसमें हम तुरन्त तत्पर हो जाते यदि भाषा का प्रयोग भावों को छिपाने के बदले उन्हें प्रकाशित करने के अर्थ किया गया होता।

सब से पहले तो हमें यह देखना है कि सदाचरण कहते किसको हैं। यदि हम उन समस्त कर्म्मों की सूची तैयार करने बैठें जो इस सदाचरण के नाम से पुकारे जाते हैं तो यह बात हमारी सामर्थ्य के बाहर ही नहीं वरन् हमारे अभिप्राय साधन के लिए निष्प्रयोजनीय भी होगी। किसी* कर्म विशेष में कर्त्ता से पृथक् कोई दोष वा गुण नहीं होता। इस कहने से कि अमुक कर्म्म अच्छा वा बुरा हुआ हमारा केवल यही तात्पर्य्य रहता है कि अमुक परिणाम को उपस्थित करने में कर्त्ता के चित्त का संस्कार अच्छा वा बुरा था।

यदि कोई पूछे कि एक कर्म्म करने से मनुष्य को क्यों आदर और यश मिलता है और दूसरे के करने से क्यों छिः छिः सुनना पड़ता है तो इसका उत्तर यही दिया जा सकता है कि एक कर्म्म को विचार करते समय श्रद्धा और आदर का उद्भूत न होना और दूसरे के द्वारा घृणा और क्रोध का जागृत न होना असंभव है; ठीक उसी प्रकार से जैसे जिह्वा पर रखने से संभव नहीं कि चीनी मीठी और इंद्रायण कडु.वा न लगे। अतः जिस प्रकार हमारी इंद्रियों को कुछ पदार्थ रुचिकर और कुछ अरुचिकर प्रतीत होते हैं उसी प्रकार हमारी आत्मा को भी कुछ कर्म्मों के चिन्तन से सन्तोष और कुछ के चिन्तन से घृणा और क्रोध प्राप्त होता है।

*पदार्थों के बीच परिवर्त्तन उपस्थित करना। मनुष्य के कर्म्म में मानसिक संस्कार भी संयुक्त रहता है इससे उसके गुण और दोष का विचार होता है।

हमारा सौन्दर्य्य का भाव केवल रंग और आकार का साक्षात्कार मात्र नहीं है, वह भाव इन सब से उत्पन्न अवश्य है पर इनसे सर्वथा भिन्न है। इसी प्रकार हमारे आचरण की उत्कृष्टता विषयक विचार केवल क्रियाओं का साक्षात्कार अथवा उपकार का पता लगना मात्र नहीं है—वह एक और ही वस्तु है। यदि कोई पूछे कि चीनी क्यों रुचिकर और सौन्दर्य्य क्यों आह्लादकारक होता है तो इसका क्या उत्तर है? सदाचारी से भिन्न सदाचार और दुराचारी से भिन्न दुराचार केवल नाम मात्र है। कर्म्म कुछ नहीं केवल कर्त्ता ही का किसी अवस्था में किसी परिणाम का विचारना और उसको उत्पन्न करना है। किसी अंग विशेष का प्रकार विशेष से परिचालित करना और भौतिक पदार्थों के बीच परिवर्त्तन उपस्थित कर देना स्वयं कोई दोष वा गुण नहीं रखता। अतएव किसी कर्म्म के सत् और असत् का विचार करने के लिए हमें उसको तीन खंडों में विभाजित करना पड़ेगा।

(१) अवस्था जिसमें कर्त्ता स्थित है;
(२) कर्त्ता का मानसिक संस्कार; और
(३) परिणाम अर्थात भौतिक वा मानसिक परिवर्त्तन।

इन तीनों में से यदि दूसरा खंड निकाल लिया जाय तो कर्त्ता सब दोषों से मुक्त और सब गुणों से रहित हो जायगा। शेष दो का काम केवल मानसिक संस्कार के अनुसंधान में सहायता पहुँचाना है। तात्पर्य्य यह कि किसी कर्म्म के भले वा बुरे होने का विचार चित्त ही की ओर देख कर किया जा सकता है। जैसे जब हमें कोई किसी व्यक्ति की ओर यह कह कर दिखलावे कि इसने एक मनुष्य का बध किया है तो हम तुरंत उसको दुराचारी कह देंगे और उसके प्रति क्रोध और घृणा हमारे चित्त में जागृत हो जायगी। पर वही इङ्गितकर्त्ता यदि इतना और कहे कि 'वह मनुष्य जिसका बध हुआ लुटेरा था और मारनेवाले की ओर आक्रमण करने के लिए झपटा था' तब हम फिर चट उसके साहस और पराक्रम की प्रशंसा करने लगेंगे। अथवा यदि कोई मनुष्य जानबूझ कर किसी वृद्ध मनुष्य को ऊँचे स्थान से धक्का देकर नीचे ढकेल दे तो वह तुरंत मनुष्य-बध के घोर पातक का भागी हो जायगा। पर वही मनुष्य यदि मार्ग में चला जाता हो और अचानक उस वृद्ध से टकरा जाय और वह वृद्ध उसके धक्के से नीचे एक नदी में गिर कर प्राण त्याग कर दे तो हमें उसपर किसी प्रकार का दोषारोपण करने का अधिकार नहीं है। शारीरिक क्रिया तो दोनों में एक ही है—जिस प्रकार एक के लिए उसको अपना अंग हिलाना पड़ा उसी प्रकार दूसरे के लिए भी; पर दूसरे में उस मानसिक तत्त्व का अभाव रहा जिसके बिना किसी परिवर्त्तन को मानव कर्म्म की संज्ञा दी ही नहीं जा सकती। अन्तःकरण की स्थिति का अवश्य विचार करना होता है। इसके बिना क़ानून भी अपना प्रचंड दंड नहीं उठाता। सारांश यह कि गुण दोष के विचार के लिए यही मानसिक संस्कार ही मुख्य है, स्वयं कोई कर्म्म अर्थात् भौतिक वा अभौतिक परिवर्त्तन भला वा बुरा नहीं होता।

बहुतों का मत है कि जिस कर्म्म से दूसरों का उपकार साधन हो जाय वही श्लाघनीय और उसका कर्त्ता लौकिक प्रशंसा का अधिकारी है। इसमें मानसिक संस्कार का कुछ विचार नहीं किया गया है। तब तो स्टीम इंजिन तथा और बहुत सी उपयोगी वस्तुएँ वैसी ही श्रद्धा और प्रतिष्ठा के योग्य ठहरती हैं जैसे संसार के उपकारी महात्मागण। यह तो ठीक है कि संसार में जितने सत्कर्म्म हैं सब का अंतिम परिणाम सृष्टि का उपकार ही है, पर यह कह देना कि किसी पिंड को प्रशंसा वा घृणा का पात्र बनने के लिए उसकी उपकारिणी वा अपकारिणी गति ही आवश्यक है, भूल है; संभव है कि उसकी गति अचेतन अवस्था में, किसी दूसरे पिंड के द्वारा अथवा विपरीत परिणाम उपस्थित करने का प्रयत्न करते समय उत्पन्न हुई हो। इस अवस्था में उसकी कुछ भी प्रशंसा नहीं की जा सकती।

इस बात को यहाँ पर स्वीकार करना पड़ता है कि संसार के सब प्राणी हर समय एक ही कार्य्य को विचार करके एक ही भाव नहीं प्राप्त करते। अतएव इस सद्‌द्विषयक भाव की व्यापकत्व-संबंधी तीन सीमाएं स्थिर करनी पड़ती हैं।

(१) पहले ता बहुत से अवसर ऐसे देखने में आते हैं जिनमें चित्त सत् असत् का विवेक नहीं कर सकता अर्थात् चित्त की उस क्रिया ही का ह्रास हो जाता है जो इस विभिन्नता का मूल है। ये अवसर वे ही हैं जब चित्त क्रोध, शोक आदि मनोवेगों से विचलित हो जाता है। अन्तःकरण इन अवसरों पर दूसरे प्रकार की प्रबल भावनाओं से परिपूर्ण रहता है इससे किसी कर्म्म की इस भावना को उत्पन्न करने की प्रवृत्ति में अंतर नहीं पड़ा, क्योंकि उस समय न कि केवल यही सत् असत् का विवेक वरन् समस्त प्रकार के विवेक (बुद्धि से संबंध रखनेवाले भी) नष्ट हो जाते हैं। उस समय रेखागणित के तत्त्व भी इसी प्रकार अधिकार रहित हो कर चित्त से दूर हटे रहते हैं। किन्तु यह बात मनोवेगों के अत्यन्त भयानक अवस्था पर पहुँचने पर होती है; सामान्यतः तो यह होता है कि चित्त में इस सत् असत् के विभेद बने रहने पर भी मनुष्य उसके अनुसार कार्य्य करने की परवा नहीं करता अर्थात् उसकी इंद्रियाँ इन्हीं मनोवेगों के अटल आदेश पर परिचालित होती हैं।

(२) दूसरी सीमा उन जटिल कर्म्मों पर जा ठहरती है जिनके परिणाम परस्पर विरोधी होते हैं अर्थात् उपकार और अपकार दोनों की ओर प्रवृत्त रहते हैं। कोई कर्म्म जो कि हमारी श्रद्धा वा घृणा का विषय है वास्तव में अभिप्राय से युक्त कर्त्ता ही है। अतएव कोई तो उस कर्त्ता को भला और कोई बुरा कहते हैं। इस अंतर पड़ने का यह कारण है कि कोई तो उस उपकार की ओर दृष्टि रखते हैं जो उस कर्म्म से निकलता है और कोई अपकार की ओर; कोई तो यह निश्चय करते हैं कि कर्त्ता का चित्त भलाई की ओर प्रवृत्त था और कोई यह समझते हैं कि उसका मुख्य अभिप्राय अनिष्ट ही था। यह गड़बड़ केवल परिणामों की जटिलता के कारण होता है जिनकी ओर देख कर हम कर्त्ता का अभिप्राय निकालते हैं। यदि हमारे पास कर्त्ता की मानसिक वृत्ति जानने का कोई और अधिक उत्तम साधन होता तो यह गड़बड़ कदापि उपस्थित न होता। प्रकट है कि मानसिक संस्कार के अनुसंधान का यह साधन कभी कभी धोखा भी दे जाता है। उदाहरणतः जैसे कोई मनुष्य किसी गहरी खाई के एक किनारे पर खड़ा हो कर किसी अशक्त मनुष्य का, जो कि खाई के दूसरे किनारे पर है, हाथ पकड़ कर अपनी ओर खींचे और वह अशक्त व्यक्ति नीचे जा रहे तो निरीक्षक को कर्त्ता की मानसिक प्रवृत्ति का निर्णय केवल इस घटना ही की ओर देख कर करना बड़ा कठिन होगा। लोगों में जो थोड़ा बहुत मतभेद इस सत् असत् के निश्चय में पाया जाता है उसका कारण एक यह भी है। ऐसे जटिल कर्म्मों के विषय में जो हम पृथक् पृथक् सम्मति स्थिर करते हैं इसका कारण यह है कि हम कर्म्मों के मानसिक तत्त्वों का पूरा पूरा विचार नहीं कर सकते। अतः यह दोष कर्म्मों के यथावत् ज्ञान प्राप्त करने में है; स्वयं कर्म्मों में नहीं। यदि मानसिक संस्कार की ओर हम देखने पावें तो हमें भले बुरे का निर्णय करने में कुछ भी देर न लगे। हमारी रसना ज्यों ही कोई पदार्थ उसपर रक्खा जाता है मीठे कड़ुए का निर्णय कर देती है। छोटे से बच्चे के मुँह में भी यदि ऐसे पदार्थ रख दिए जाते हैं तो उसे भी उनसे आनंद वा पीड़ा प्राप्त होती है। मीठे और कड़ुए का फ़रक़ बच्चे को भी उसी प्रकार प्रत्यक्ष रहता है जिस प्रकार एक सयाने व्यक्ति को। चीनी की ओर इच्छा और इंद्रायन की ओर अनिच्छा प्रगट कराने के लिए कोई शिक्षा वा मारपीट नहीं दरकार होती।

(३) इन दो सीमाओं के अतिरिक्त एक तीसरी सीमा भी बाँधनी ज़रूरी है जो कि कर्म्मों के विषय में हमारी सम्मति पर बड़ी शक्ति के साथ प्रभाव डालती है—यह संबंध वा सहयोग है। हमें यह न

समझ लेना चाहिए कि कर्मों के विषय में भावना उत्पन्न होने की शक्ति हमें और दूसरी मानसिक क्रियाओं के प्रभाव से वंचित रखती है। संबंध वा सहयोग इस शक्ति के हरण तो नहीं कर लेता पर उसे नवीन नवीन विषय प्रदान करता है अथवा किसी व्यक्ति के किसी कर्म्म विशेष पर विचार करते समय उस व्यक्ति से संबंध रखनेवाली और और बातों को सामने लाकर खड़ा कर देता है जो कि उस कर्म्म विशेष के निरीक्षण द्वारा स्थिर किए हुए भाव को या तो तीव्र कर देती है अथवा हलका।

इस संबंध का सब से प्रचुर विस्तार उस समय देखने में आता है जब हम किसी समुदाय संबंधी भावना का तदंतर्गत किसी कर्म्म विशेष में प्रयोग करते हैं। वास्तव में तो प्रकृति में कोई समुदाय नहीं होते पर हम लोगों ने बहुत से पृथक् पृथक् कर्म्मों को किसी किसी अंश में समानता के विचार से एक श्रेणी के अंतर्गत मान लिया है और उस समूह को व्यक्त करने के लिए एक पृथक् नाम रख लिया है। न्याय, अन्याय, दया, क्रूरता आदि ऐसे ही शब्द हैं।

इन शब्दों के सुनते ही हमारी भावना केवल एक ही कर्म्म पर नहीं स्थिर हो जाती वरन् उन सब कर्म्मों का मिश्रित पंचामृत किया हुआ भाव चित्त में उद्भूत होता है जो उस समुदायसूचक शब्द के अंतर्गत माने गए हैं। इससे किसी एक ही कर्म्म के विचार में बड़ी तीव्र भावना का उद्गार होता है। इतना भर हम सुन पावें कि अमुक कार्य्य उस समुदाय के अंतर्गत आता है जिसको 'अत्याचार' कहते हैं फिर चट न कि केवल अकेले उस कर्म्म ही के विषय में हमारे चित्त में उद्गार होता है वरन् उन समस्त घोर अनर्थों और उपद्रवों से थोड़ा बहुत भाव ग्रहण करके जिन पर इस अनादृत शब्द का अधिकार है चित्त उस से कहीं तीक्ष्ण और उद्विग्न भावना का अनुभव करता है जो केवल एक कर्म्म के चिंतन से उसे प्राप्त होता।

ऊपर कहा जा चुका है कि इस संबंध वा सहयोग के प्रभाव से भावनाएं तीव्र ही नहीं वरन् हलकी भी हो जाती हैं। किसी किसी समय उस निर्भयता और निर्दयता की बड़ी प्रशंसा होती है जो दूसरे अवसरों पर निंदनीय कही जाती है। यह प्रायः तब होता है जब शरीर और धन की रक्षा बिना इस निर्भयता तथा निर्दयता का अवलंबन किए नहीं हो सकती। ऐसी दशा में दया और भय को चित्त में स्थान देना भीरुता और निर्बलता समझी जाती है। उस समय प्राणियों का रुधिर-पात करते हुए भी संबंध के विचार से कर्त्ता का मन कलुषित नहीं वरन् उज्ज्वल रहता है। बहुत सी जंगली जातियाँ विदेशियों का बध करने के लिए सदैव सन्नद्ध रहती हैं। इससे यह न अनुमान करना चाहिए कि वे स्वयं इस कर्म्म को दूसरे को हानि पहुँचानेवाला जान कर ही अच्छा समझती हैं। वे यह कार्य्य या तो हानि की आशंका से अथवा अपने समाज की रक्षा का हेतु समझ कर करती हैं। उनके बीच भी ऐसा कोई अधम न होगा जो किसी व्यक्ति को कष्ट के साथ प्राण त्याग करते देख दो चार बूँद आँसू न गिरा दे। इसी संबंध के विचार से जिसे हम निकृष्ट कर्म्म कहते हैं उनके बीच निंदनीय नहीं होता। इसी प्रकार जब कोई बुराई हम उन व्यक्तियों में देखते हैं जिन्हें हम प्यार करते हैं—जैसे पिता, माता, स्त्री, पुत्र इत्यादि—तो इसी संबंध का प्रभाव उनके प्रति हमारी आन्तरिक घृणा में कमी कर देता है। इससे यह अभिप्राय नहीं है कि हम उन दुष्कर्म्मों को पसंद करने लगते हैं जो उन लोगों में होते हैं जिनसे हम स्नेह रखते हैं। परन्तु यह संबन्ध या सहयोग उन कर्म्मों की ओर दृष्टिपात करते समय उन बातों को भी सम्मुख ला कर उपस्थित कर देता है जिनके हेतु हम उन्हें प्यार करते हैं। स्नेह जो स्वयं एक उत्कृष्ट भाव है हमारे चित्त में उन दुष्कर्म्मों से आविर्भूत घृणा को भली भाँति ठहरने नहीं देता। हम अपने उपकारी माता पिता से स्नेह करने में सदाचार का व्यवहार करते हैं इस

से उनके कर्म्मों की आलोचना का भाव हमारी कृतज्ञता के भाव के आगे दब जाता है।

मेरी जान में यह बात स्पष्ट हो गई होगी कि कर्म्मों के सदसद्विषयक विवेक का प्रादुर्भाव हमारी आत्मा में अवश्य होता है। शंका की जा सकती है कि यदि इस प्रकार की भावना मनुष्य मात्र में स्वाभाविक है तो संसार में अनेक प्रकार के दुष्कर्म्म और अत्याचार होते क्यों हैं? मैं पहले कह चुका हूँ कि कुछ अवसर ऐसे हैं जिनमें ये भेद-सूचक भाव उदय नहीं होते अथवा उनके उदय होने पर भी मनुष्य दूसरे प्रबल मनोवेगों के हाथ में काठ का पुतला हो जाता है। उसकी इंद्रियाँ इन्हीं क्रोध, शोक और इच्छा आदि प्रबल मनोवेगों के आदेश पर परिचालित होती हैं। चोर जिस समय चोरी के लिये जाता है तो यह नहीं समझता कि हम कोई बड़ा पुण्य करने जाते हैं; वह इस बात को भली प्रकार जानता है कि उसके चित्त की वृत्ति बुरी है; किन्तु वह अपनी प्रबल इच्छा को रोकने में असमर्थ रहता है। क्या एक हत्यारे को किसी निरपराध के हृदय में छूरी धँसाते देख कर किसी को हँसी छूटेगी? क्या ऐसा भी कोई नराधम इस भूमंडल पर होगा जो अपने पिता माता का बध करके प्रसन्नता के साथ लोगों में अपने कर्म्म की घोषणा करता फिरे? क्या एक पशु का रुधिर भी पृथ्वी पर गिरता हुआ देख कर किसी मनुष्य कहलानेवाले जीव के मुख से चकार न निकलेगा।

बहुत से तत्वज्ञ इस सत् असत् के भेद को बिलकुल कल्पित और मनुष्यकृत बतलाते हैं। इस विलक्षण मत के संस्थापकों में से सब से साहसी और अग्रसर डाक्टर मैंडेविल (Dr. Mandeville) हैं। इनके हाथ में पड़ कर इस सिद्धांत ने अत्यन्त ओजस्वी और प्रभावशाली रूप धारण किया है। इन महाशय के विचार में सदाचार आदि की प्रशंसा केवल राजनैतिक युक्ति है, और जिस सत्कर्म्म की प्रशंसा करना संसार स्वीकार करता है वह केवल कर्त्ता का ऊपरी दिखाव के लिए आडंबर मात्र है। ये कहते हैं कि मनुष्य का जीवन परस्पर पाखंड ही में व्यतीत होता है जिसमें कि छल से अपना कुछ वर्त्तमान सुख उस शाबाशी की लालसा से परित्याग किया जाता है जिसको कि समाज, जो उस स्वार्थ-त्यागी व्यक्ति से भी बढ़ कर धूर्त्त है, सदैव देने के लिए प्रस्तुत रहता है। किन्तु यह साधुवाद उस सुख-परित्याग के प्रतिकार में दिया जाता है जो उसके अर्थात् समाज के लाभ के हेतु किया जाता है। इनका कहना है कि मनुष्य भी स्वभावतः और जीवधारियों की तरह केवल अपनी ही तुष्टि चाहता है; दूसरे के सुख वा दुःख का कुछ विचार नहीं करता। अतएव सब से पहला काम प्रत्येक देश के शास्त्रकारों को यह देख पड़ा कि किसी न किसी प्रकार इनसे अपना अपना कुछ सुख समाज की भलाई के लिए परित्याग करावें। किन्तु यह त्याग ऐसे जीवों से प्राप्त करना जो कि अपना ही सुख देखते थे बिना उस परित्यक्त सुख का पूरा बदला दिए हुए संभव नहीं था। परिवर्त्तन में इंद्रियों के भोग की तो कोई ऐसी सामग्री मिली नहीं जिसे दे कर संतुष्ट किया जाता, इससे मनुष्य को एक दूसरी ही तृष्णा का सहारा लेना पड़ा। इस कार्य्य के हेतु मनुष्य की प्रशंसा के हेतु स्वाभाविक तृष्णा उपस्थित हुई। लोगों को फुसला कर यह विश्वास दिलाया गया कि स्वार्थ परित्याग के कारण उनकी गिनती महात्माओं में की जायगी। लोग चट इस सौदे के लिए सन्नद्ध हो गए और अपने किसी आनन्द वा सुख को—जिसको वे कदापि परित्याग न करते यदि अधिक लाभ न दिखाई पड़ता—उस साधुवाद के बदले में दे डालने को तैयार हो गए जिसको उन्होंने अधिक मूल्यवान विचारा। The moral virtues are the political offspring which flattery begot on pride.

इस सिद्धान्त में यथार्थता का कितना अंश है, पाठकगण विचार सकते हैं। यह कहता है कि निरपराध स्त्री बालकों का हत्या-कांड देख कर जो कोई दो चार बूँद आँसू गिरा देता है और उनके

त्राण की इच्छा प्रगट करता है वह केवल संसार को दिखाने के लिए; अर्थात् उस सुख अथवा आनंद को जो इस घटना के निरीक्षण के पूर्व उसमें था, वह कदापि परित्याग न करता और अपने चित्त को आँसू गिरा कर व्यथित न करता यदि एक भीड़ उसके इस कर्म्म के देखने को वहाँ न खड़ी होती। इस मत के दृष्टान्त इस संसार में इतने अधिक मिलते हैं कि एक सामान्य विवेचनावाले मनुष्य को इसके व्यापकत्व में प्रतीति लाने को वाध्य कर दे सकते हैं। बात यह है कि सच्चे सदाचार को संसार में प्रतिष्ठा और आदर पाते देख लोगों ने उसके बाहरी लक्षणों की नक़ल उतारनी आरंभ की। धीरे धीरे लोगों के लिए स्वार्थ-साधन का यह एक मार्ग निकल गया। इस तरह के स्वाँग बहुत दिखलाई देने लगे। कोई देश काल के विरुद्ध चौगोशिया टोपी दिए और छः कली का घेरदार अंगरखा लटकाए इस आसरे में बैठा है कि कोई आकर देखे और कहे कि "अहा! बाबू साहब भी कैसे सीधे सादे और सज्जन व्यक्ति हैं।" कोई चंदन चर्चित कलेवर में किसी हवादार मैदान में खड़ा हो कर शंखनाद द्वारा अपने सदाचार की घोषणा कर रहा है। पर जिस तर्कनाप्रणाली पर उपर्युक्त सिद्धान्त अवलंबित है वह दूषित है। उसमें यह पहले ही मान लिया गया है कि समस्त सद्विचार पाखंड हैं तदुपरान्त इस कथन का विस्तार बड़े कौशल के साथ किया गया है और संसार में प्राप्त अधिकांश उदाहरणों का बड़ा सजीव और तद्रूप चित्र खींचा गया है। अच्छा, हम थोड़ी देर के लिए मान भी लेते हैं कि हम सब लोग वास्तव में पाखंडी हैं और जीवन की धूर्तता से जानकार हैं; ऐसी अवस्था में हम सदाचार का लक्षण स्वयं बना सकते हैं पर औरों पर जिन्हें हम उसी कपट-वेष में देखते हैं क्योंकर श्रद्धा कर सकते हैं जब कि हम सदाचरण के मूलतत्त्व से पूर्णतया विज्ञ हैं? अर्थात् स्वयं गहरे पाखंडी हो कर हम पाखंडियों के कार्य्य पर क्यों कर श्रद्धा और विश्वास रखते हैं?

यदि सत्यतः इस जगत में किसी एक की प्रसन्नता दूसरे पर होती है, किसी एक की आराध्य-दृष्टि अन्य पर होती है तो यह स्पष्ट है कि यह श्रद्धा वा पूज्य बुद्धि कदापि जान बूझकर पाखंड के प्रति नहीं होती बल्कि उस सच्ची सात्विक-शीलता के लिए होती है जिसके चिंतन और हमारी श्रद्धा के बीच कोई दूसरा भाव नहीं घुस सकता। यह कैसे अनर्थ की बात होगी यदि हम उन लोगों को जो हमारे निकटवर्ती मित्र कहलाते हैं सदा अविश्वास की दृष्टि से देखा करें; माता, पिता, भार्य्या की स्नेह भरी दृष्टि तथा अनुराग पूरित वचनों में, बच्चों की मीठी मीठी बोली में, मित्रों के आश्वास-वाक्यों में कपट ही कपट देखें और जैसे २ वाक्य अधिक कोमल सुनाई पड़ें वैसे २ हम उनकी ओर से और अधिक कपट समझें और सोचें कि वे उनको इसी हेतु कोमल करते जाते हैं जिससे धोखा देने में और भी कम कसर रह जाय। यदि यह विचार अभाग्यवश किसी के चित्त में समा जाय तो उसके लिए समाज नरक हो जायगा, उसे निर्जन स्थान ही का निवास वांछित होगा। उपर्युक्त मतानुसार सदाचरण केवल प्रशंसा की खोज है। यह (सदाचार) एक सुख का त्याग अवश्य करता है, पर काल और मात्रा के विचार से अधिक के लिये अथवा यों कहिए कि इस सदाचार की आड़ में स्वार्थ छिपा बैठा है। इस विचित्र बात को सिद्ध करने के लिए इस मत के अनुयायीगण यह युक्ति उपस्थित करते हैं। यदि हम किसी की भलाई की इच्छा करते हैं तो यह हमारे लिए आनंद का विषय होगा कि वह सुखी हो और यह इच्छा यदि पूर्ण न हुई तो हमे क्लेश होगा। इस पूर्त्ति के आनंद को तथा विफलता के क्लेश को सामने रख कर क्या हम संशय कर सकते हैं कि हमारा अभीष्ट वास्तव में अपना ही हित-साधन नहीं था? यह तर्क वास्तव में उलझन में डालने के लिए रचा गया है; परीक्षा करने पर यह सर्वथा निरर्थक ठहरेगा। हमारा प्रश्न यह नहीं है कि अमुक रीति से कार्य्य होना

आनंदकारक और न होना क्लेशकारक है वा नहीं; हमें तो यह देखना है कि क्या आनंद ही हमारी इस इच्छा का उद्देश्य है ? इस स्वार्थवादी सिद्धांत का आधार वह आनंद समझा गया है जो किसी सत्कर्म्म के उपरान्त हमें प्राप्त होता है। परंतु थोड़े ही विचार से स्पष्ट हो जायगा कि वह कार्य्य वा परिणाम है, कारण नहीं। हमें परोपकार करने में आनंद अवश्य मिलता है—पर वह इसलिए कि हम उपकार करते हैं और उसके करने की पूर्व से अभिलाषा रखते हैं। यह आनंद हम अनुभव करते हैं इसलिए हम उपकार नहीं करते। यदि हम उपकार न किए होते तो इस उपकार के आनंद को उसी प्रकार न जानते जिस प्रकार बिना रूप रङ्ग को देखे हुए सौन्दर्य्यगत आनंद को। यह कहना कि हम अपने आनंद ही के हेतु उपकार करते हैं ऐसा ही है जैसा कि यह कहना कि रूप और रंग की ओर दृष्टि पड़ जाने का कारण तद्गत आनंद ही है। उपकार की इच्छा हम पूर्व से रखते हैं। यदि हमारी यह इच्छा किसी दूसरे पर प्रकट हो जाती है तो तुरंत हमारी ओर उसके चित्त में श्रद्धा वा रुचि उत्पन्न हो जाती है। बस सदाचार का नित्यलक्षण यही है। कुमार्गी से कुमार्गी मनुष्य भी यदि इसका सच्चा उदाहरण कहीं पा जायगा तो चट साधुवाद देकर अपनी आध्यात्मिक अभिरुचि प्रकट करेगा। परोपकारी मनुष्य आनन्द अवश्य अनुभव करता है परन्तु वह उस आनन्द को त्यागने में भी कुछ कसर न करेगा यदि उसकी यह क्षति उस स्वार्थ-परित्याग का कोई अंश हो सके जिसको उसने किसी के भले के लिए किया है। यह सत्य है की सदाचारी पुरुष दूसरे का उपकार करके स्वयं अपना उपकार करता है, किन्तु उपकार करते समय वह अपना कुछ भी ध्यान नहीं रखता, वह अपने को बिलकुल भूला रहता है। उसका महान् उद्देश्य यही रहता है कि वह दूसरे का भला करे; स्वयं उसके सुख की योजना करना तो विश्वात्मा का उद्देश्य है।

यदि सात्त्विकशीलता कुछ नहीं केवल अपना लाभ है तो वह प्रशंसा और भक्ति भी जो सदाचारी की की जाती है केवल अपने ही लाभ के लिए हुई। यह बात इस मत के अनुयायियों ने ही अपने श्रीमुख से कही है। अब मान लीजिए कि नादिरशाह, तैमूर आदि घोर अत्याचारी हममें से किसी के सामने अपनी लूट का समस्त धन रख दें और कहें कि "यह सब तुम्हारा है यदि तुम हम पर श्रद्धा और भक्ति करना स्वीकार करो" तो क्या श्रद्धा हमारे हृदय में चट उमड़ आवेगी ? क्या हम ऐसे अवसर पर इतनी सुख-सामग्रियों के दाता उन दुराचारियों के प्रति एक भी ऐसा मानसिक उद्गार अनुभव करेंगे जैसा किसी एक सामान्य व्यक्ति के तुच्छ से तुच्छ सद्व्यवहार के लिए जो हमारे सांसारिक सुख में कुछ भी वृद्धि नहीं कर सकता। यदि सत्कर्म केवल स्वार्थ है तब क्यों उपर्युक्त अवस्था में हमारी श्रद्धा और घृणा में उसी हिसाब से अन्तर नहीं पड़ता जाता है जिस हिसाब से सांसारिक उपभोगों का नवीन नवीन प्रलोभन हमें दिखाया जाता है। क्योंकि दुराचारी के प्रति हमें जो घृणा होती है वह इसलिए नहीं कि दुराचार स्वयं उत्कृष्ट से उत्कृष्ट उदारता की अपेक्षा हमारी श्रद्धा के कम योग्य है बल्कि इसलिए कि उससे हमारे स्वार्थ में हानि पहुँचती है। संभव है कि यदि कोई घोर दुराचारी हमें घूस दिया करे तो उसके प्रति जो पहले हमें घृणा थी वह एक हलकी चिढ़ के रूप में हो जायगी, और वह चिढ़ भी एक सामान्य अप्रसन्नता के रूप में हो जायगी और यदि घूस और भी बढ़ा दी जाय तो वह अप्रसन्नता भी थोड़ी श्रद्धा के रूप में हो जायगी यहाँ तक कि ज्यों ज्यों हमारे सामने घूस की ढेरी लगती जायगी त्यों त्यों यह श्रद्धा भी भक्ति, प्रतिष्ठा, आराधना इत्यादि स्नेह की विविध श्रेणियों में होती हुई उत्तरोत्तर बढ़ती जायगी और अन्त में हम उस दुराचारी को, जिसने हमें इतना सुख-साधन प्रदान किया, उसी पूज्य और आराध्य दृष्टि से देखने लगेंगे जिस दृष्टि से कि हम संसार के प्रातःस्मरणीय महोपकारी महात्माओं को देखते हैं। मेरी जान में

तो यह ऐसा ही असंभव है जैसा द्रव्य का लालच दिखला कर किसी व्यक्ति को लाल रंग को हरा अनुभव करा देना। यह हो सकता है कि हम उस दुराचारी को साष्टांग दंडवत करें, निरपराध बच्चों और अबलाओं को काटते हुए देख कर धन्य धन्य करें किन्तु इससे अधिक और कुछ नहीं कर सकते। हम अपनी जिह्वा को झूठी बना सकते हैं, अपने अष्टांगों को पृथ्वी पर गिरा सकते हैं किन्तु अपने अन्तःकरण पर हमारा कोई वश नहीं है। वहाँ पर सत्य अपनी वाणी नहीं रोकेगा, वहाँ पर पाप जिसको हम सराह रहे हैं तिरस्कृत ही रहेगा और जिसको हम देवता कह कर पुकार रहे हैं वह पिशाच ही रहेगा।

इस सदसत्सम्बन्धी विवेक के अनुसन्धान में हमें यह भी देख लेना है कि बुद्धि की उसमें कहाँ तक गति है; क्योंकि बहुत से तत्त्वविदों के विचार में अन्तःकरण वृत्ति (बुद्धि) से यह विवेक भी उत्पन्न होता है। डा० क्लार्क (Dr. Clarke) इस सिद्धान्त के स्थापक हैं। इनके विचार में सदाचरण अपने व्यवहार को उस उपयुक्तता के अनुकूल ले चलना है जो हम पदार्थों में देखते हैं अर्थात् उनके पारस्परिक विलक्षण सम्बन्ध को देख भाल कर काम करना है। इस मत में और लक्षण दोष जो हैं वह तो है ही इसके अतिरिक्त उस भावना का आरोप पहले ही कर लिया गया है जिसका हेतु यह उपयुक्तता वा उसको लक्ष्य करने की शक्ति कुछ भी नहीं बतला सकती। बुद्धि से पृथक् एक रुचिकर वा अरुचिकर भावना अवश्य होनी चाहिए अन्यथा बुद्धि हज़ारों उपयुक्तता और यथार्थता व्यर्थ ही देखेगी तथा एक ग़लत घड़ी वा गणित क्रिया की अशुद्धि देख कर उतना ही तीव्र क्रोध और घृणा अनुभव करेगी जितना एक लुटेरे को किसी ऐसे अकिंचन को लूटते देख कर जिसे दिन भर में भी भोजन का ठिकाना नहीं लगता।

उपयुक्तता एक सापेक्षिक शब्द है। यह केवल योग्य की योग्यता ही प्रकट करता है चाहे अन्तिम परिणाम कुछ ही हो। अन्तिम परिणाम निकाल देने से यह केवल योग्यता ही योग्यता रह जाती है अर्थात् इसमें भलाई बुराई का समावेश नहीं हो सकता। पर हम तो परिणाम की भलाई बुराई की ओर देखते हैं अतएव हमें तो सदा स्वयं उपयुक्तता ही की भलाई बुराई की परीक्षा करनी रहती है। यदि केवल उपयुक्तता ही का विचार किया जाय तब तो सदाचार की अत्यंत प्रसन्नता तथा सुख उत्पन्न कर देने की उपयुक्तता से दुराचार की घोर हलचल तथा आपत्ति उत्पन्न कर देने की उपयुक्तता कुछ घट कर प्रशंसनीय न होनी चाहिए।

बुद्धि कर्म्मों के द्वारा उपस्थित किए हुए परिवर्त्तनों तथा उनकी भिन्न भिन्न मात्रा की संभावनाओं ही को दिखलाती है, हमारा सदसत्सम्बन्धी विवेक अन्तःकरण की एक दूसरी वृत्ति पर स्थित रहता है। यदि हममें पहले ही से लोगों (व्यक्ति वा समुदाय विशेष नहीं जिन्हें हम अपने सद्भावों का अधिकारी नहीं समझते) के हित से अनुराग और उनके अनिष्ट से अश्रद्धा न रहे तो हमें कौन बतलावे कि अमुक कर्म जिससे दूसरे को लाभ पहुँचता है उस कर्म की अपेक्षा अधिक श्रेय है जिससे दूसरों को हानि पहुँचती है। बुद्धि का काम तो केवल इतना ही है कि वह आपको बतला दे कि अमुक रीति से कार्य्य करने में सांसारिक पदार्थों के बीच ये ये परिवर्त्तन उपस्थित होंगे और उनसे इतने प्राणियों को सुख और इतने प्राणियों को दुःख पहुँचेगा। बुद्धि की सहायता की सीमा यहीं तक है। वह आपको यह न बतलावेगी कि आप उस परिणाम को त्याग कर जिससे लोगों को दुःख पहुँचता है उस परिणाम को उपस्थित करने की चेष्टा करें जिससे लोगों को सुख पहुँचे। यह पवित्र आदेश तो उसी मानव अन्तःकरण की रुचि का है जो विश्वात्मा की रुचि का एक अंश है*।

—:०:—

* Dr. Brown के Philosophy of the Human Mind, के आधार पर।

नागरी लिपि।

भारतवर्ष के प्रायः सब भागों में अपने अपने देशभाग की मातृभाषा की उन्नति के लिये अनेकानेक सभाएं हैं और वे यथाशक्ति उन्नति भी करती हैं। इसी प्रकार हमारे इन प्रान्तों में भी देशभाषा तथा लिपि के प्रचार और उन्नति की अनेक संस्थाएं हैं जैसे 'हिन्दी भाषा सम्बर्द्धिनी सभा,' 'हिन्दी साहित्य समिति,' 'नागरी प्रचारिणी सभा,' 'नागरीभाषोत्तेजनी सभा' आदि। इन सब के नामों को देखने से सन्देह होता है कि क्या 'हिन्दी' और 'नागरी' दो भाषाएं हैं। परन्तु 'हिन्दी' और 'नागरी' दोनों एक ही भाषा मानी जाती हैं। प्रथम यह विचार कर्तव्य है कि 'हिन्दी' शब्द से क्या तात्पर्य्य है। भिन्न भिन्न विद्वानों के इस विषय में जुदा जुदा मत हैं। किसी किसी का यह मत है कि 'हिन्दी' शब्द विदेशी भाषा का है जो इस देश की भाषा में मिल गया है। विदेशी 'हिन्दी' शब्द को काफ़िर वा डाकू के अर्थ में प्रयोग करते थे और विरुद्धधर्मी होने के कारण वे पीछे से इस देश के वासियों को 'हिन्दी' या 'हिन्दू' कहने लगे। बहुत काल तक शब्द के व्यवहार में रहने से इस देशवासियों ने उसके बुरे अर्थ की ओर ध्यान न देकर उसे अपना लिया और स्वयं 'हिन्दी' कहने और कहे जाने को गौरव मानने लगे। दूसरे पक्ष वाले यह कहते हैं कि यह शब्द विदेशी विधर्मी भाषा का नहीं है वरन् इसी देश का है और इस शब्द के वे अर्थ नहीं हैं जिनमें विदेशी कभी इसका प्रयोग करते होंगे।

ऐसा देखने और सुनने में आता है कि बाहरी देशों के लोग यहाँ के निवासी तथा भाषा दोनों ही को हिन्दी कहते हैं। पुराने काल की ज़न्दभाषा की और फ़ारसी भाषा की पुस्तकों के देखने से ज्ञात होता है कि 'हिन्दी' शब्द सामान्य रूप में इस देश के सब वासियों के लिए प्रयुक्त किया जाता था। मौलाना रूम ने इस देश के मुसलमानों को भी 'हिन्दी' कहा है जिससे यह स्पष्ट है कि पूर्व काल में भी 'हिन्दी' शब्द विदेश में धर्मी विधर्मी सब के लिए समान व्यवहृत होता था। ज़ंद संस्कृत और प्राकृत भाषा के मिलान करने से जाना जाता है कि ये दोनों भाषा एक ही होंगी; क्योंकि ज़ंद भाषा में संस्कृत शब्द कुछ बिगड़ कर व्यवहृत हुए हैं और काल पाकर दोनों देश के निवासियों में धर्म विषयक कुछ मतभेद होजाने से संस्कृत के शब्द विपरीत अर्थ में प्रयुक्त किये जाने लगे। 'हिन्दी' शब्द ज़ंद भाषा में आया ही है जिससे ऐसा अनुमान होता है कि वहाँ वह विदेशी के अर्थ में लिखा गया हो और वह किसी संस्कृत के विशेष शब्द का अपभ्रंश हो। गुजरात काठियावाड़ और पश्चिमी राजपूताना के भागों में गँवारी वा मामूली भाषा में 'स'कार का 'ह'कार उच्चारण करते हैं जैसे सगा को हगा, सासू को हाहू. सांभल्यूं को हांभल्यूं आदि बोलते हैं। इसी प्रकार पूर्व समय में 'सिन्ध' का 'हिन्द' और 'सिन्धी' का 'हिन्दी' होगया था। भारतखंड देश की पश्चिमी सीमा सदा से 'सिन्ध' नदी' रही है और पुरानी पुस्तकों के देखने से ऐसा भी जाना जाता है कि इस देश के वासी शाकद्वीप (सीदिया) आदि विदेशों को जाया करते थे जैसा कि सतातीर की ज़रतुश्त की आयत में लिखा है कि बिरहमुन व्यास नाम का हिन्द से आया?" जब इस देश के वासी बाह्य देशों में जाते थे तो वे अपने को 'सिन्ध' पार वासी कहते थे और 'स' कार बदल कर ह करने से 'सिन्ध' का 'हिन्द' हो गया और 'सिन्ध' पार के वासी 'सिन्धी' वा 'हिन्दी' हो गये और इस प्रकार भारतवर्ष के वासी इस देश और परदेश दोनों स्थान में 'हिन्दी' बोले जाने लगे। भारतवर्ष के सब धर्म वा जाति के मनुष्य और उनकी सब भाषा तथा लिपि 'हिन्दी' नामधारी हो गईं। यही व्यवस्था इस समय भी देखने में आती है कि ईरान, तूरान, रूम, अरब आदि

देशों में इस देश के सब धर्म तथा जाति के लोग 'हिन्दी' बोले जाते हैं। वहाँ लोग इस देश के मुसलमानों के भी हिन्दी कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि 'हिन्दी' शब्द बुरे अर्थ में व्यवहृत नहीं होता। पर इसके संग यह भी है कि जैसे यहाँ पर 'हिन्दी' शब्द को एक विशेष अर्थ सूचन करने में प्रयोग किया जाता है उस अर्थ में पहले वह काम में नहीं आता था। वास्तव में देखा जाय तो 'हिन्द' देश की भाषा 'हिन्दी' है जिसमें पंजाबी, सिन्धी, मारवाड़ी, ब्रजभाषा, पूर्वी, बुन्देली, बिहारी आदि आ सकती हैं, क्योंकि भारतवर्ष का उत्तर भाग 'हिन्द' कहा जाता है और 'हिन्दी' भाषा में उरदू भी गिनी जा सकती है। इस हेतु 'हिन्दीभाषा' तथा 'हिन्दीसाहित्य' कहने से साधारण रीति पर पंजाबी पूर्वी उर्दू आदि हिन्द की भाषा से तात्पर्य्य हो सकता है परन्तु 'हिन्दी' सभा वा समिति वालों का तात्पर्य्य एक विशेष भाषा और लिपि से है और वह 'नागरी' शब्द से है और इसी 'नागरी' की उन्नति तथा प्रचार के लिये वे प्रयत्नशील हैं। यह अवश्य माना जाता है कि आजकल 'हिन्दी' शब्द सब रीति से 'नागरी' के ही अर्थ में उपयोग किया जाता है, परन्तु विचारपूर्वक देखने से 'हिन्दी' का 'नागरी' एक भेद है परन्तु 'नागरी' 'हिन्दी' कहाने पर भी भिन्न स्वयं एक ही भाषा और लिपि है। जैसे इस देशवासियों को हिन्दी कहने से पंजाबी, बंगाली, गुजराती आदि सभी आ जाते हैं परन्तु गुजराती वा बंगाली कहने से हिन्द के एक प्रान्त के रहने वालों से तात्पर्य्य होता है उसी प्रकार हिन्दी और नागरी भाषा का प्रयोग है। अस्तु।

इसे सब विचारवान् सुज्ञ महाशय जानते मानते हैं कि जब कभी किसी देश ने समयानुकूल उन्नति की है तो उसने अपने देश की मातृभाषा ही के द्वारा की है क्योंकि सर्वसाधारण में पदार्थविज्ञान, रसायन, कलाकैाशल, नीति आदि का ज्ञान इन इन विषयों सम्बन्धी मातृभाषा की पुस्तकों ही द्वारा हो सकता है और उसको सर्वजन सुगमता से प्राप्त कर सकते हैं। ऐसा करने के लिए अपनी मातृभाषा का कोष विस्तृत करने की अत्यावश्यकता होती है और अपनी भाषा की लिपि को भी सुधारना अनिवार्य होता है। बिना लिपि के सुधारे और और भाषाओं के कितने ही शब्द ठीक नहीं लिखे जा सकते। मनुष्य के आन्तरिक विचारों को सबके समक्ष प्रगट करना भाषा का काम है पर लिपि का काम उन विचारों की प्रतिमा अक्षरों में निर्माण कर उनको अमर बनाना है और इन प्रतिमाओं द्वारा ही ज्ञान पा कृतकार्य होना है। क्योंकि जो आज संसार में लिपि न होती तो हमारे पूर्वकाल के ऋषि महर्षियों के विचार और उपदेश तथा प्रत्येक प्रकार की विद्या ऐसे पूर्ण रूप में आज हमको ज्ञात न होती और इंग्लैण्ड, अमेरिका आदि उन्नत और समृद्ध देशों के अनेकानेक विषय के अनुभव वा ज्ञान हमको सहस्रों कोस पर बिना प्रयास न मिलते। इससे यही अनुमान होता है कि भाषा की अपेक्षा उसकी प्रतिमा लिपि का गैारव विशेष है। भारतवर्ष में अनेक भाषायें प्रचलित हैं और उनकी जुदी जुदी लिपियाँ भी हैं। हमारे प्रान्त की भाषा 'नागरी' है तो लिपि भी 'नागरी' नाम की है। और और लिपियों की अपेक्षा नागरी लिपि कितने ही अंशों में पूर्ण और शुद्ध मानी जाती है।

हमारे देश के तथा बड़े बड़े पाश्चात्य विद्वानों की खोज से जो सामग्री अब तक प्राप्त हुई है उसके सहारे ही 'नागरी' लिपि के जन्म का समय नियत करना दुःसाध्य काम है। कोई कोई महाशय यह कहते हैं कि जब से लेखन-प्रणाली चली है उसी काल से 'नागरी' लिपि प्रचलित है। उन लोगों का यह कथन पुरानी पुस्तकों, शिलालेखों और ताम्रपत्रों के आधार पर है। पर वे लोग जब तक किसी बलिष्ठ प्रमाण से अपने कथन का समर्थन न करें उसके मानने में संकोच ही होता है। बैाद्ध धर्म का, ललितविस्तर नाम का एक पुराना ग्रंथ है, जो अनुमान विक्रम संवत् से पूर्व लिखा गया माना जाता है। उसमें लिखा है कि युवराज सिद्धार्थ (बुद्ध)

जब अपने गुरु विश्वामित्र दारुकाचार्य के पास विद्याध्ययन करने गये तो उस समय वह ६४ लिपियों को जानते थे । उन ६४ लिपियों के नाम ये हैं:—

ब्राह्मी, खरोष्ठी, पुष्करसारी, अंग, बंग, मगध, मांगल्य, मनुष्य, अंगुलीय, शकारि, ब्रह्मवल्ली, द्राविड़, किनारी, दक्षिण, उग्रसंख्या, अनुलोम, अर्धधनुष, दरद, खास्य, चीन, हूण, मध्याक्षरविस्तर, पुष्प, देव, नाग, यक्ष, गंधर्व, किन्नर, महोरग, असुर, गरुड़, उत्तरकुरुद्वीप, अपर गोड़ादि, पूर्वविदेह, मृगचक्र, वायुमरुत, भौमदेव, अन्तरिक्षदेव, उत्क्षेप, विक्षेप, प्रक्षेप, सागर, वज्र, लेखप्रतिलेख, शास्त्रावर्त, गणनावर्त, उत्पेक्षावर्त, निक्षेपावर्त, पादलिखित, द्विरुत्तर-पद-सन्धि, यावदूद्दशोत्तरपदसन्धि, मध्याहारिणी, सर्वरुतसंग्रहणी, विद्यानुलोम, विमिश्रित, ऋषितपस्तप्त, रोचमान, धरणप्रेक्षण, सर्वौषधनिष्यंद, सर्वसारसंग्रहणी, और सर्वभुतरुत संग्रहणी ।

इन ६४ लिपियों में 'नागरी' लिपि का कहीं नाम भी नहीं है । जैन लोगों के प्राचीन एकादश अंगों में समावाय नाम के चतुर्थ सूत्र में ऐसा वर्णन है कि ब्राह्मी लिपि, आदि जिन ऋषभदेवजी की पुत्री ब्राह्मी ने प्रचलित की थी और इसी कारण वह ब्राह्मी लिपि के नाम से प्रख्यात हुई । उसी स्थल पर १८ लिपियों के नाम इस प्रकार लिखे हैं ।

ब्राह्मी, यवनाली, दाशपूरिका, खरोष्ठी, पुष्करशारिका, पार्ब्वतीया, उच्चत्तरिया, अक्षरपुस्तिका, भोगवयत्ता, वेयणतिया, निराहइया, अंकलिपि, गणितलिपि, गंधर्व, आदर्श, माहेश्वर, दाम और बोलिदि ।

इस स्थल के सिवा जैनों के चतुर्थ उपांग प्रज्ञापना सूत्र में भी जो श्यामार्य ने महावीर के निर्वाण के ३७६ वर्ष पश्चात् अर्थात् विक्रम संवत् से १०० वर्ष पूर्व लिखा गया था, इस प्रकार १८ लिपियों के नाम लिखे हैं ।

ब्राह्मी, यवनाली, दाशपूरी, खरोष्ठी, पुष्करसारी, भोगवटिका, पार्वतीया, अंतरकरी, अक्षरपुस्तिका, वेणतिया, निहइया, अंकगणित, गंधर्व, आदर्श, माहेश्वरी, द्राविड़ी और पोलिन्दा ।

इन दोनों स्थलों में भी 'नागरी' लिपि का नाम नहीं है । जैनों के मतानुसार सब अंग महावीर के समय में लिखे गये थे और उनके १७४ वर्ष पश्चात् विक्रमी संवत् से २५० वर्ष पूर्व पाटलिपुत्र के श्रीसंघ में सब अंग एकत्र किये गये थे, जिससे यही अनुमान होता है कि महावीर के समय तक नागरी लिपि का नाम नहीं था । हाँ, ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि इन लिपियों में से कोई एक* आगे जाकर नागरी बन गई हो ।

गुजरात प्रान्त में बड़नगर नामक स्थान और वहाँ के बड़नगरे ब्राह्मण प्रख्यात हैं । उस नगर में वल्लभी राजा ध्रुवसेन की आज्ञा से जैनियों का कल्पसूत्र प्रसिद्ध हुआ था । यह समय विक्रम की छठी शताब्दी के आदि का था । कल्पसूत्र से कुछ काल पूर्व नन्दीसूत्र रचा गया था जिसमें 'नागरी' लिपि का नाम देखने में आता है ।

कल्पसूत्र कल्पद्रुमकलिका ग्रंथ में जैन पण्डित लक्ष्मीवल्लभगणि प्रचलित लिपियों को इस रीति वर्णन करते हैं ।

हंसलिपि, भूतलिपि, राक्षसीलिपि, उड्डीलिपि, यक्षलिपि, यावनीलिपि, तुरकीलिपि, कीरीलिपि, द्राविड़ीलिपि, सैन्धवीलिपि, मालवीलिपि, नडीलिपि, नागरीलिपि, पारसीलिपि, लाटीलिपि, अनिमित्तलिपि, चाणकीलिपि, और मौलदेवी । इनके अतिरिक्त देशभेद से १८ लिपियाँ और लिखी हैं ।

लाटी, चौड़ी, डाहली, कणाडी, गूजरी, सोरठी, मरहठी, कौङ्कणी, खुरासाणी, मागधी, सिंहली, हाडी, कीरी, हम्मीरी, परतीरी, मसी, मालवी, महायोधी, इत्यादि ।

ऊपर कहे हुए बौद्ध और जैन ग्रंथों के देखने से इतना स्पष्ट है कि विक्रम की तीसरी शताब्दी से

* गुजरात देश के क्षत्रप राजा नहवान के सिक्कों में 'नगरी' अक्षर प्रथम ही लिखे देखने में आये हैं । वह राजा विक्रमी तीसरी शताब्दी में हुआ था ।

पूर्व नागरीलिपि का नाम नहीं मिलता और उस समय के पीछे की पुस्तकों, शिलालेखों और ताम्रपत्रों में नागरीलिपि का कुछ पता चलता है। कुछ पण्डितों का यह कहना है कि पुरानी पुस्तकों में जो देव, भौम-देव, अन्तरिक्षदेव आदि लिपियाँ लिखी हैं, उनमें से एक आज कल प्रचलित नागरी लिपि की जन्मदातृ है। पर जब तक कोई प्रमाण द्वारा वा दोनों लिपियों के सादृश्य द्वारा सिद्ध न किया जाय तब तक यह अविश्वसनीय है। इतना अवश्य है कि 'नागरी' लिपि किसी पूर्व की लिपि का रूपान्तर है पर यह निश्चय करना कि अमुक लिपि में से ही नागरी लिपि उत्पन्न हुई है, बहुत कठिन काम है। यह अनुमान करने का कि 'नागरी' मागधी अशोकलिपि का जो ब्राह्मी ही मानी जाती है, रूपान्तर है, एक प्रबल कारण विद्यमान है। ऐसा देखने में आता है कि जब एक सार्वभौम राजा का राज्य बहुत विस्तार का होता है और कई देशों पर प्रसरित होता है तो उन उन देशों की जुदी जुदी भाषा और लिपि होने पर भी राज्य भाषा और लिपि दोनों का प्रचार सब देशों में न्यूनाधिक हो जाता है। आज भारतखंड भर में इँगलैंड के महाराज का सार्वभौम राज है और अँगरेज़ी राजभाषा और लिपि में राज्य के सर्व कार्य्य होते हैं और इसी कारण अँगरेज़ी भाषा और लिपि का प्रचार केवल ब्रिटिश इण्डिया में ही नहीं है वरन देशी राज्यों में भी न्यूनाधिक फैला हुआ है और फैलता जाता है और लोगों के मन का झुकाव ऐसा होता जाता है कि एक समय अँगरेज़ी भाषा ही का उनकी मातृभाषा हो जाना सम्भव है। ठीक इसी रीति से पूर्वकाल में महाराज अशोक और गुप्तवंशीय राजाओं का सार्वभौम राज्य भरत-खंड के उत्तर भाग में बंगाल के समुद्र से सिन्ध नद के पार तक विस्तृत था और मागधी भाषा और लिपि का भी प्रचार भले प्रकार था जिसका समर्थन अशोक आदि मगध महाराजों के स्तंभ, शिलालेख और ताम्रपत्रों की भाषा और लिपि से जो सिन्ध तक देखने में आई हैं होता है। ऐसे ही कारणों पर ध्यान देने से यह अनुमान करने में आता है कि जहाँ जहाँ आज 'नागरी' लिपि का प्रचार देखने में आता है वहाँ की पूर्वकाल की प्रचलित लिपि पर मागधी का प्रभाव पड़ने वा मागधी लिपि पर उन देशों की लिपि का प्रभाव होने से मागधी लिपि ही रूपान्तर को पहुँचती चली गई और लक्ष्मीवल्लभ-गणि के समय में रूपान्तर को प्राप्त लिपि 'नागरी' नाम से प्रसिद्ध हुई। विद्वानों का ऐसा कथन है कि गया ज़िले में अफसड ग्राम में बाराहमूर्ति के पास जो एक शिलालेख है, उसकी लिपि को मागधी कुटिला बताते हैं और वह लिपि 'नागरी' लिपि से मिलती जुलती है। इस कथन से भी यही सिद्ध होता है कि मागधी लिपि का ही एक रूपान्तर 'नागरी' है।

'नागरी' लिपि के प्रचार का समय निश्चय करने में ताम्रपत्रों से भी कुछ पता चलता है। विक्रम की तीसरी शताब्दी के राजा नहपान के सिक्कों में नागरी अक्षर हैं ऐसा विद्वानों का शोध है। विक्रमी छठी शताब्दी में गुजरात देश में गुर्जर राजों का राज्य था उनमें के एक राजा दद्दप्रशांत का एक ताम्रपत्र मिला है जो उस समय वहाँ की प्रचलित गुर्जर लिपि में है परन्तु उसके अन्त में राजा के हस्ताक्षर 'नागरी' लिपि से मिलती हुई लिपि में हैं और शोधक लोग उसको नागरी का रूप बताते हैं। इससे यही ध्वनित होता है कि 'नागरी' लिपि या तो राजा की लिपि हो वा राजा परदेसी थे इस कारण वह लिपि वे ही उत्तर देश से संग ले गये और निज काम में लाते रहे। इसके सिवा द्वारिका के पास धिनकि ग्राम में से सौराष्ट्र के एक राजा जिंकदेव का संवत् ७९४ का ताम्रपत्र मिला है। उसकी लिपि देखने से प्रतीत होता है कि उस समय 'नागरी' लिपि उस प्रान्त में प्रचलित थी। शक ६७१ के गुजरात के राष्ट्रकूट राजा दन्तिदुर्ग खड्गावकोक के ताम्रपत्र की लिपि में तथा कोल्हापुर राज्य के शासनगढ़ ग्राम के ताम्रपत्र की लिपि में अक्षर विन्यास के देखने से स्पष्ट जाना जाता है कि उनमें

इ, घ, च, ण, ध, न, ल और ञ अक्षर गुजरात में उस समय प्रचलित गुहा लिपि से मिलते हैं और शेष अक्षर विकसित नागरी अक्षरों से मिलते हैं। इसी राष्ट्रकूट वंश के राजा, द्वितीय ध्रुवसेन, इन्द्र-नित्यवर्ष, गोविन्दसुवर्णवर्ष के नवीं और दसवीं शताब्दी के ताम्रपत्रों में त, घ, ण और न के सिवा और अक्षर वर्त्तमान नागरी अक्षरों से मिलते हैं और उक्त लिपियों के संयुक्त अक्षरों के देखने से ऐसा अनुमान किया जाता है कि वे पुराने गुप्त अक्षर विकास के प्राप्त हुए हैं। उत्तर भरतखंड में सिसे-नियन राजाओं के सिक्के मिले हैं जिनमें से एक राजा के सिक्कों में 'श्रीवासुदेव वहमन' शब्द नागरी अक्षरों में लिखे कहे जाते हैं। ये सिक्के सातवीं शताब्दी के हैं। इन सब ताम्रपत्र तथा सिक्कों के देखते इस अनुमान के पुष्टी मिलती है कि 'नागरी' लिपि दूसरी शताब्दी में आजकल के प्रचलित रूप में आगई और जब तक कोई और विरुद्ध सबल प्रमाण न मिले यह अनुमान ठीक ही ज्ञात होता है।

जब यह सिद्ध सा हो गया कि 'नागरी' लिपि मागधी का रूपान्तर है तो यह प्रश्न उठता है कि इस मागधी के रूपान्तर का नाम 'नागरी' क्यों हुआ? मैथिली (विहारी) तथा बंगाली लिपियां भी मागधी का रूपान्तर कही जाती हैं और वे देश-भेद से मैथिली तथा बंगला लिपि कहाईं। परन्तु 'नागरी' नाम के लिए क्या कारण हुआ इसका अभी विचार करना है। ऊपर जो बैाध और जैन ग्रंथों से भाषा और लिपियों के नाम दिये गये हैं उनके देखने से यह सिद्ध होता है कि भाषा और उसकी लिपि के नाम या तो देशपरत्व से वा जनसमुदाय के नाम से जिनमें वे प्रचलित थे रक्खे गये थे। जैन पंडित लक्ष्मीवल्लभगणि ने दो विभाग में लिपियों के नाम लिखे हैं, प्रथम उन लिपियों को लिखा है जो देशवासी जनों वा जन-समुदाय के नाम से बोली जाती थीं और दूसरी जगह वे लिपियां लिखी हैं जो देशभेद से नामांकित थीं। 'नागरी' लिपि को उस श्रेणी में लिखा है जो किसी विशेष जनसमुदाय वा देशवासियों के नाम से कही जाती थीं। शेषवंशोद्भव नृसिंह के पुत्र शेषकृष्ण ने जो कृष्णपंडित के नाम से विख्यात थे और ७५० वर्ष पूर्व हुए हैं अपनी प्राकृतचन्द्रिका नाम की पुस्तक में उन भाषाओं के नाम लिखे हैं जो देश के नाम से बोली जाती थीं। वहां 'नागरी' को भी लिखा है। यथा—

> महाराष्ट्री तथावन्ती शौरसैन्यर्धमागधी।
> वाल्हीकी मागधी चैव षड़ेता दाक्षिणात्यजाः॥
> व्रचण्डो, लाट, वैदर्भी उपनागर-नागरौ।
> बार्वरा,—अवन्त्य,—पाञ्चाल,—टाक्का,—मालव,—कैकयाः॥
> गैाडोलड,—दैव,—पाश्चात्य,—पाण्ड्य,—कौन्तल,—सैंहलाः;।
> कालिङ्ग,—प्राच्य,—कार्णाट,—काञ्च्य,—द्राविड,—गौर्जराः,॥
> आभीरो, मध्यदेशीयः, सूक्ष्मभेद व्यवस्थिताः।
> सप्तविंशत्यपभ्रंशा वैडालादि प्रभेदतः॥

इस स्थल पर 'नागरी' को देश भेद से बता कर उसको अपभ्रंश भाषा कहा है जिससे यह प्रगट होता है कि देश के किसी भाग विशेष की भाषा को और भाषाओं के मेल से भ्रष्ट कर 'नागरी' भाषा में परिवर्त्तन किया था। जब 'नागरी' भाषा देशभेद से कही जाती है और अपभ्रंश है तो इस भाषा की 'लिपि' भी देशभेद से हुई और अपभ्रंश भी हुई। कल्पसूत्र, कल्पद्रुमकलिका के कर्ता के कथनानुसार 'नागरी' नाम जनसमुदाय के नाम से हुआ है तो इन दोनों स्थलों को मिलाने से यह सिद्ध होता है कि 'नागरी' नाम एक जनसमुदाय के नाम से है जिसके नाम से उसका निवास स्थान भी बोला जाता था और उनकी भाषा और लिपि के नाम भी उस जनसमुदाय के नाम से ही रक्खे गये थे।

यहां तक तो यह निश्चय हुआ कि 'नागरी' नाम किसी स्थान विशेष और वहां के निवासियों के नाम से पड़ा है और उस स्थान के वासियों की भाषा तथा लिपि दोनों 'नागरी' कहाने लगी। भरतखंड में अनेक स्थानों के नाम नगर वा 'नागर' हैं। महीसूर राज्य का एक भाग 'नगर' वा नागर है, जलालाबाद के समीप का देश पूर्वकाल में 'नागरहार' के नाम से प्रख्यात था, नेपाल में 'नागरजंक' नाम का पर्वत

है । इनके अतिरिक्त यदि किसी नगर के नाम से 'नागरी' लिपि वा भाषा का होना मानें तो पूर्व में अनेक ग्राम वा क़सबे 'नगर' नामधारी थे जैसे चित्तोरगढ़ के पास 'नागरी' नाम का प्राचीन ग्राम है जिसके समीप से सिक्के मिले हैं जिनको देख तथा और और शोध कर मिस्टर कनिङ्घाम साहब इस निर्णय पर आये हैं कि यह ग्राम ईसा से पूर्वकाल का है और इसका नाम त्रंबावती नगरी था । पंजाब में एक नगरकोट नाम का स्थान है और यह भी पुराना गिना जाता है । तीसरे महाभारत में लिखा स्थान मालिनी नगरी था और चौथा ग्राम गुजरात के अन्तरगत शड़नगर ग्राम है जो पुराने समय में आनन्दपुर और नगर के नाम से प्रख्यात था । इस आनन्दपुर का नाम नगर होने के विषय में स्कंदपुराण के हाटकेश्वर माहात्म्य की कथा में लिखा है कि एक समय नागों का आक्रमण आनन्दपुर पर हुआ और वहाँ के ब्राह्मण मारे गये और जो बचे वे भाग गये । त्रिजात ने जो भर्तृयज्ञ के नाम से प्रख्यात हुआ उपाय कर नागों को निकाल दिया और ब्राह्मणों को जो भाग गये थे दूर दूर से बुला कर फिर बसाया और जो कि उसने पुर की रक्षा नागों से की थी इसलिए आनन्दपुर 'नगर' नामधारी हुआ और वहाँ पर जो ब्राह्मण पुनः बसाये वे 'नागर' कहलाये । इनके सिवा देश में अनेक ग्राम वा पुर नगर नाम के हैं । अब जो यह माना जावे कि 'नागरी' भाषा वा लिपि का नाम किसी नागर नामधारी जनसमुदाय के कारण हुआ है तो प्रत्येक नगरवासी 'नागर' कहे जाने के सिवा मुख्य दो जनसमुदाय वा जाति 'नागर' नाम की ज्ञात हुई हैं । एक जाति काबुल के उत्तर भाग में रहती है और वह अपने को क्षत्रिय और राजपूताने की रहनेवाली बताती है । वह बहुत काल से देश से बाहर चली गई है और अब मुसलमान धर्म में है । पूर्वकाल में राजा सगर ने जैसे चक, जात, हूण, कलचूरी, हैहय, कम्बोज, पल्हव, पारद आदि क्षत्रियों को देशबाह्य किया और वे दूर देशों में जा बसे और धर्मभ्रष्ट हुए इसी प्रकार यह काबुल के उत्तर भाग के निवासी देश से बाह्य जा बसने से आज परदेशी माने जाते हैं । क्या आश्चर्य कि वास्तव में वे इस देश के ही वासी हों और उनका निवासस्थान सिन्धनद के समीप रहा हो और इनके निवास के कारण जलालाबाद के समीप का भाग नागरहार नाम से प्रख्यात हुआ हो । इस जाति के सिवा 'नागर' नाम की प्रख्यात ब्राह्मण जाति गुजरात में है जिसकी पूर्व कथा स्कंद पुराण के 'नागरखंड' में लिखी है और गुजरात काठियावाड की रियासतों के इतिहास में इस समुदाय के लोगों ने राज कार्य भार में सदा से जो भाग लिया है उसका वर्णन मिलता है । ऊपर कहे हुए दोनों समुदाय वा जाति के अतिरिक्त काशमीरी ब्राह्मण, जट, गूजर, मैथिल ब्राह्मण, संथाल के कृषक, आदि में नागर नाम की उपजाति हैं परन्तु इन सब उपभेदों की इतनी प्रख्याति कहीं जानने सुनने में नहीं आई कि जिस से इनमें से किसी के लिए यह अनुमान किया जा सके कि 'नागरी' नाम इनके ही कारण हुआ था ।

ऊपर कहे हुए नागर वा नगर नाम के स्थानों और 'नागर' नाम के जनसमुदाय वा जाति पर विचार करने से यही अनुमान होता है कि नागरहार नाम के स्थान और वहाँ के पूर्ववासी नागरों से जो अब काबुल देश में हैं 'नागरी' लिपि की उत्पत्ति और नाम हुआ हो वा गुजरात प्रान्त की प्रख्यात नागर ब्राह्मण जाति जिसका मुख्य ग्राम बड़नगर था 'नागरी' लिपि की जन्मदातृ थी । बंगाली विश्वकोश के रचयिता श्रीयुत नगेन्द्रनाथ वसु ने स्पष्ट लिखा है कि 'नागरी' लिपि का उद्भव नागर ब्राह्मणों से हुआ था । एक महानुभाव का अनुमान है कि पंजाब के नगरकोट नामी ग्राम के वासी नागर कहे जाते थे और वहाँ से जो लोग देश में दूर दूर तक जा बसे वे सब 'नागर कहे जाने लगे । इसी कारण काशमीर के ब्राह्मण, जाट, गूजर, गुजरात के नागर ब्राह्मण, मैथिल आदि में 'नागर' उपनाम हो गया, वास्तव में सब एक थे और एक स्थान के वासी थे । इनके लेख को विचारते

'नागरी' लिपि और भाषा का उद्भव स्थान 'नगर-कोट' हो सकता है और 'नागरी' भाषा तथा लिपि उसी नगरवासियों की भाषा और लिपि मानी जा सकती है। एक समय ऐसा हुआ हो परन्तु आज यदि पंजाब में जायँ और नगरकोट को भी देखें तो न वहाँ के वासियों को ही कोई 'नागर' कहता है और न वहाँ की भाषा और लिपि ही नागरी है और न वहाँ के वासी अपने को 'नागर' कहते हैं। दूसरी ओर 'नागर' ब्राह्मणों के विषय में यह कहा जाता है कि वे उत्तर देश से जाकर आनर्त देश अर्थात् गुजरात में बसे थे और इस बात का समर्थन स्कंद पुराण के नागरखंड से भी होता है। जिस समय ये गुजरात में जाकर बसे अपनी देश लिपि को भी संग ले गये और उसे अपने काम में लाने लगे। जो नागर ब्राह्मण शास्त्रज्ञान धर्मकर्मानुष्ठान तथा राज व्यवहार में निपुण और कुशल थे वे लोक में और राज्य कार्यभार में आगे आने लगे और सामयिक शासन-कर्ता राजाओं के पूरे कृपापात्र विश्वसनीय मंत्री होने लगे। वे धर्मकर्मानुष्ठानों में भी मुख्य गिने जाने लगे और इस कारण उनकी लिपि ने भी राज्य कुल में मान आदर पाया। यही कारण है कि नहपान के सिक्कों की लिपि के सिवा दूसरे ध्रुवसेन के समय में 'नागरों' की लिपि 'नागरी' का नाम जैन ग्रंथों में भी लिखा गया था। गुर्जर राजा दद्दप्रशान्त के ताम्रपत्र के देश की गुहा लिपि में लिखे जाने पर भी राजा ने अपने हस्ताक्षर 'नागरी' लिपि में किये जिसका भी अभिप्राय यही होता है कि राजकुल में राज के मंत्री और पुरोहितों की लिपि का आदर और प्रचार था। इन सब बातों को मनन करने से यह सिद्ध होता है कि 'नागर' ब्राह्मण उत्तर से गुजरात में बसे और नाग भय से देश को छोड़ और देशों में चले गये और जब नागों को गुजरात से भगा दिया गया तो वे फिर देश देशान्तर से जाकर अपने पुराने नगर आनन्दपुर में बसे और उस नगर का नाम 'नागर' पड़ा और वे ब्राह्मण 'नागर' कहाये। दूसरी बेर देश में जाने के समय वे अपने संग उत्तर देश की प्रचलित लिपि को जो मागधी होगी लेते गये और उन्होंने उसकी लेखन-प्रणाली में कुछ परिवर्तन भी किया जिसके कारण गुजरात अर्थात् आनर्त देश में वह नागर ब्राह्मणों के नाम से 'नागरी' कही जाने लगी। आज भी यदि गुज-रात की प्रचलित लिपि को ब्राह्मी वा मागधी से मिलावें तो बहुत से अक्षर थोड़े बहुत तोड़ मरोड़ से ब्राह्मी लिपि से ही बने ज्ञात होते हैं और दोनों लिपियों के मस्तक नहीं बंधते यह भी एक सादृश्य विद्यमान है। काल पाकर यह लिपि विस्तार को पहुँची और उत्तर तथा मध्य भरतखंड उसका मुख्य स्थान भी हुआ परन्तु नाम जो उस लिपि का 'नागरी' हो चुका था वही बना रहा। इतने पर भी 'नागरी' भाषा और लिपि को पूर्ण विकास पाने का स्थान मध्य देश ही ज्ञात होता है जहाँ की भाषा और लिपि 'नागरी' नाम से आज भी बोली जाती है, नाम चाहे जिस देश वा जाति से पड़ा हो।

ऊपर लिखे तुच्छ विचारों को सभ्य विद्वान मंडल के समक्ष निवेदन कर मैं प्रार्थी हूँ कि वे अनु-चित वा असमंजस लेख को क्षमा करेंगे और इसमें जो त्रुटि हो उसको सूचित करके और उसके सुधार बता के अनुगृहीत करेंगे*।

—:o:—

प्रबन्धकारिणी समिति।

शनिवार ता० २९ जनवरी १९१४ सन्ध्या के ५½ बजे
स्थान सभाभवन

(१) गत अधिवेशन (ता० २९ नवम्बर १९१३) का कार्यविवरण पढ़ा गया और स्वीकृत हुआ।

(२) हरदोई के बाबू गिरिशचन्द्र गुप्त का पत्र उप-स्थित किया गया जिस में उन्होंने लिखा था कि हिन्दी की उन्नति के उपाय पर एक सर्वोत्तम

*एक महाशय ने जो एतद्देशीय ज्ञात नहीं होते कृपा कर यह लेख हमारे पास भेजा है पर आपना नाम लिखने की कृपा नहीं की। इससे हम उसे प्रकाशित करने में असमर्थ हैं।—सम्पादक।

लेख लिखने वाले को वे सभा द्वारा ५) रु० का एक पदक दिया चाहते हैं।

निश्चय हुआ कि उन्हें लिखा जाय कि वे हरदोई के सरस्वती क्लब के द्वारा कृपापूर्वक इस पदक का प्रबन्ध करें।

(३) बाबू सारदाचरण मित्र का पत्र उपस्थित किया गया जिसके साथ उन्होंने निम्न लिखित मिमोरियल की एक प्रति लिपि सभा की सूचना के लिए भेजी थी और पूछा था कि सभा इस सम्बन्ध में क्या किया चाहती है :—

To

THE RIGHT HONOURABLE

The Secretary of State for India.

Sir,

The undersigned memorialists desire to call the attention of Government to the following facts :—

That according to the Report of the census of India (1911) out of a total population of 31,51,32,537 there were 29,48,75,811 illiterates ; and

That while the illiteracy varies according to sex and religion the amount is lamentably great in all classes, 90 per cent of the males and 99 per cent of the females being illiterate and whole classes of the people being in almost total ignorance of the arts of reading and writing ; and

That according to Dr. Isaac Taylor "the distinct alphabets (really syllabaries) employed by this vast aggregate of human beings (the population of India) outnumber all the alphabets used by the remainder of the world, many of them being among the most elaborate that have ever been devised ;" and

That though there are on an average only 37 elementary sounds, which, with an alphabet, would require separate letters, and only 53 for the whole of the languages, yet with the indigenous script from 500 to 1000 complicated types are required for each vernacular, and, in all, there are from 10,000 to 20,000 elaborate types used for printing, the confusion being sometimes increased by the same language being printed in various scripts and the same script being used for various languages ; and

That all the complication of the 500 to 1000 types of the syllabary must be mastered before any reading is possible ; and

That according to Sir Monier Williams "the employment of (these) complicated symbols places a serious obstacle in the path of advancing education" ; and

That the difficulty of learning to read is such that "out of 55,23,730 children under instruction, about 40,00,000 are in primary schools, and that out of these four millions the greater part are in the three lowest classes" ; and

That according to the census of 1901 "the spread of education does not depend on the number of schools, and there are large sections of the population who will remain ignorant however many schools there may be, unless something is done to attract them more than has hitherto been attempted" ; and

That the Government contemplate a wide extension of elementary education, which, if carried out in the complicated syllabic scripts will cause a continuation of the present difficulties of the indigenous character ; and

That many of the indigenous scripts cause a serious strain on the eyesight both in the written script and the printed books ; and

For these and many other reasons set forth at length in pamphlets and extracts of the views of oriental scholars, educationalists, Indian civil servants, missionaries and others, copies of which are in the India office, your memorialists pray that Government will appoint a commission, on which Indians and Indian interests shall have full representation, to consider the question of a common alphabet for Indian languages and to decide upon some alphabets, which, on approval by Government, shall be sanctioned for optional use in schools and public courts.

निश्चय हुआ कि बाबू सारदाचरण मित्र को सूचना दी जाय कि यद्यपि यह सभा मेमोरियल देने वालों के सिद्धान्तों से सहमत नहीं है तथापि वह इस कमीशन के नियत होने में कोई हानि नहीं देखती। जिस समय कमीशन नियत हो जायगा उस समय सभा अपना कर्त्तव्य निर्धारित करेगी।

(४) बाबू तेजूमल एम. कनल का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने 'देशसेवा' पर एक सर्वोत्तम लेख लिखने वाले को सभा द्वारा ५) रु० का एक पदक देने की इच्छा प्रगट की थी।

निश्चय हुआ कि बाबू तेजूमल एम कनल से पूछा जाय कि देश सेवा से उनका क्या अभिप्राय है।

(५) हरदोई के सरस्वती क्लब का पत्र उपस्थित किया गया जिस में उन्होंने लिखा था कि उनके क्लब ने निश्चय किया है कि सभा अपनी अध्यक्षता में उस क्लब को चलावे और उसकी कुल सामग्री की मालिक रहे।

निश्चय हुआ कि मंत्री से प्रार्थना की जाय कि वे इस सम्बन्ध का क़ानून देख कर सभा को उचित सम्मति दें।

(६) ठाकुर केशरीसिंह बारहट का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने नागरीप्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित 'ज्योतिषप्रबन्ध' शीर्षक लेख को पुस्तकाकार छपवाने की आज्ञा माँगी थी।

निश्चय हुआ कि इसके एक संस्करण के प्रकाशित करने की आज्ञा दी जाय और इस संस्करण के लिये वे सभा को इस पुस्तक की १०० प्रतियाँ दें।

(७) विश्वेश्वरगंज के पोस्ट मास्टर का पत्र उपस्थित किया गया जिस में उन्होंने कुछ समय तक नये पोस्ट आफिस के लिये सभा में कुछ स्थान के लिये प्रार्थना की थी।

निश्चय हुआ कि सभा को दुःख है कि उसके भवन में कोई स्थान ख़ाली नहीं है।

(८) ठाकूर छन्नूलाल मेमोरियल मेडल के लिये शरीर साधन पर मुरादाबाद के मिस्टर एम. डी. चतुर्वेदी और शाहपुर के बाबू बलदेवप्रसाद के लेख उपस्थित किये गये।

निश्चय हुआ कि इन पर विचार कर सम्मति देने के लिये निम्न लिखित सज्जनों की सब-कमेटी बना दी जाय अर्थात् पंडित रामनारायण मिश्र, बी. ए. डाक्टर कालीचरण दुबे और बाबू कालिदास माणिक।

(९) राधाकृष्णदास मेमोरियल मेडल के लिये "मानव जीवन पर नाटकों का प्रभाव और हिन्दी में उनकी अवस्था" के सम्बन्ध में काशी के पंडित सांवल जी नागर और जबलपुर के बाबू प्रियानाथ बसक के लेख उपस्थित किये गये।

निश्चय हुआ कि इन पर विचार कर सम्मति देने के लिये निम्न लिखित सज्जनों की सब-कमेटी बना दी जाय अर्थात् पंडित मन्नन द्विवेदी गजपुरी बी० ए०, पंडित सूर्य्यनारायण त्रिपाठी एम० ए० और पंडित रामचन्द्र शुक्ल।

(१०) निश्चय हुआ कि इस वर्ष के पदकों के लिये निम्न लिखित विषय नियत किये जायँ।

राधाकृष्ण दास मेडल
विश्वविध्यालयों में हिन्दी की शिक्षा
रेडिचे मेडल
हवाई जहाज़
छन्नूलाल मेमोरियल मेडल
ग्रामों की सफ़ाई तन्दुरुस्ती

(११) "परिचर्य्या-प्रणाली" के रचयिता डाक्टर महेन्दुलाल गर्ग का १९ जनवरी का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने १०) रु० के मूल्य की इस पुस्तक की प्रतियाँ सभा से अर्द्ध मूल्य पर माँगी थीं।

निश्चय हुआ कि ये उन्हें अर्द्ध मूल्य पर दी जायँ।

(१२) गोरखपुर के बाबू पुरुषोत्तम दास का पत्र उपस्थित किया गया जिसके साथ उन्होंने "फिजियालोजी" का एक ग्रंथ सभा द्वारा प्रकाशित कराने के लिये भेजा था।

निश्चय हुआ कि इस ग्रंथ की भाषा बहुत ही क्लिष्ट है। यदि वे इसकी भाषा को सर्वसाधारण के समझने योग्य बना दें तो सभा इसे स्वयम् प्रकाशित कर देगी अथवा अन्यत्र प्रकाशित करा देगी।

(१३) ओरिएण्टल ट्रेनिङ्ग कम्पनी का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने लिखा था कि सभा यदि अपना टाइप राइटर बेचना चाहे तो वे २॥) रु० सैकड़े कमीशन लेकर उसकी बिक्री का प्रबन्ध कर देंगे।

निश्चय हुआ कि ३००) रु० तक मूल्य मिलने पर टाइप राइटर बेच डाला जाय।

(१४) निश्चय हुआ कि ता० २० नवम्बर १९१३ के निश्चय नं० २ के क, ख, और ग तथा निश्चय नं० ५ ग पर मंत्री का ध्यान दिलाया जाय और उनसे प्रार्थना की जाय कि वे इस सम्बन्ध में शीघ्र ही आवश्यक कार्रवाई करें।

(१५) सभापति को धन्यवाद दे सभा विसर्जित हुई।

साधारण अधिवेशन

शनिवार ता० ३१ जनवरी १९१४ सन्ध्या के ५ बजे स्थान सभाभवन

(१) गत अधिवेशन (ता० २९ नवम्बर १९१३) का कार्यविवरण उपस्थित किया गया और स्वीकृत हुआ।

(२) प्रबन्धकारिणी समिति का ता० २९ सितम्बर १९१३ का कार्यविवरण सूचनार्थ पढ़ा गया।

(३) सभासद होने के लिये निम्न लिखित सज्जनों के फार्म उपस्थित किये गये और स्वीकृत हुए— (१) पंडित सम्पूर्णानन्द बी. एस सी. जालपादेवी काशी १॥) (२) कुँवर विजयसिंह शर्म्मा, रईस, रियासत लाखन, अलीगढ़ ३) (३) बाबू महावीरप्रसाद वकील, बलिया ५) (४) पंडित मथुराप्रसाद शुक्ल, मौज़ा सिठमरा पो० बनीपारा ज़ि० कानपुर १॥) (५) बाबू वासुदेवसिंह कण्ट्रेक्टर, गुरपा, ई० आई० आर० ३) (६) पंडित पारसनाथ द्विवेदी, असिस्टेण्ट मेनेजर, रामादास स्टेट, काशी ३) (७) बाबू अम्बिकाप्रसादसिंह ज़मीदार, दारानगर, काशी १॥) (८) बाबू ब्रजगोपाल भाटिया, मेनेजर फ्रेण्ड एण्ड कम्पनी, मथुरा १॥) (९) बाबू लक्षमण प्रसाद नागर, मालिक, एल. वी. को नागर एण्ड को मथुरा १॥) (१०) बाबू बनारसीदास भाटिया, होली दरवाज़ा मथुरा १॥) (११) बाबू जमुनादास पोद्दार, नई सड़क, लाल कटरा दिल्ली ३) (१२) बाबू श्रीराजेन्द्रनारायण चौधरी, बल्लीपुर पो० हथौड़ी, दर्भंगा ३) (१३) बाबू नारायण लछिराम गुप्त, इन्दौर क्लावर मिल्स, इन्दौर ३) (१४) पंडित नारायण शास्त्री खिस्ते, दूध विनायक काशी १॥)

(४) मंत्री ने इस सभा के निम्न लिखित सभासदों की मृत्यु की सूचना दी (१) राय कृष्णचन्द्र, काशी (२) स्वामी प्रकाशानन्द गिरि काशी।

सभा ने इन सज्जनों की मृत्यु पर शोक प्रगट किया।

(५) काशी के बाबू रामकिशोरसिंह का इस्तीफ़ा उपस्थित किया गया और स्वीकृत हुआ।

(६) निम्न लिखित पुस्तकें धन्यवादपूर्वक स्वीकृत हुईं।

बाबू हरिदास माणिक काशी
ऐतिहासिक झलक, पहली संख्या।

पंडित खुन्नूलाल रावत, के. वी. प्रेस, फर्रुखाबाद
शिवा जी का आत्म दमन २ प्रति।

जैन ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई
आँख की किरकिरी, उपमितिभव प्रपंच कथा, फूलों का गुच्छा।

पंडित राधाचरण गोस्वामी, वृन्दावन
हंसदूतम्।

ठाकुर महादेवप्रसादसिंह काशी
चन्देल वंशावली।

बाबू नारायणदास वाजोरिया कलकत्ता
शिवाबावनी, लोकरहस्य।

बाबू बेणीप्रसाद काशी
आदर्श नागरी प्रथम भाग।
कुमार देवेन्द्र प्रसाद जैन, आरा
उपदेशरत्नमाला, बालिकाविनय।
श्रीयुत सुमन्त कवि, कोल्हापुर
मौतकमाला (मराठी)।
कन्यादानफल, शोकतरंगिणी।
पंडित विनायक राव पेंशनर, लार्डगंज, जबलपुर
रामायण अयोध्याकांड, आरण्यकांड, किष्किन्धाकांड और सुन्दरकांड श्री विनायकी टीका सहित अयोध्यारत्न भंडार।
बाबू रामनारायण, उदयपुर
राजस्थान रत्नाकर।
बाबू रामशंकर, शाहपारा, अलीगढ़
स्त्रीधर्म्मशिक्षक।
मिसर्स पाठक एण्ड को, मथुरा
स्वयं चिकित्सक।
राय साहब शि नाथ, फीरोज़पुर
विवाह पद्धति।
पंडित रूपनारायण पांडेय प्रयाग
शुकोक्तिसुधासागर।
पंडित बटुकप्रसाद मिश्र, गोवर्द्धन की सराय, काशी रामाश्वमेध भास्कर।
डा० सी० एन हालदार, त्रिपुरा, भैरवी, काशी
गृहचिकित्सा।
भारतीभवन फीरोज़ाबाद, आगरा
उत्तररामचरित्र नाटक।
मुँशी देवीप्रसाद, मुंसिफ़, जोधपुर
औरङ्गज़ेबनामा, खानखानानामा, राजा कामकेतु का जसग्रंथ, आमेर के राजा श्री पृथ्वीराज, पूरणमल; रतनसिंह, आसकरण, राजसिंह भारमल और भगवन्त दास का जीवनचरित्र, नारी नवरत्न।
पंडित शिवनाथ शर्म्मा, सम्पादक, आनन्द, लखनऊ चंडूलदास, बहसी पंडित, मिस्टर व्यास की कथा, कलियुगी प्रह्लाद मृगाङ्क लेखा, नागरी निरादरप्रहसन।
सेठ मेलाराम, वैश्य सभा, पत्रवानी ज़ि० हिसार
उपदेशकभजनावली, गृहस्थविचार।
पंडित गदाधरप्रसाद शर्म्मा वैद्य, जानसेनगंज, प्रयाग
ब्रह्मकुलपरिवर्तन।
मुंशी मूलचन्द, ट्रेनिङ्ग इंस्ट्रक्टर, अकबर पुर ज़ि० कानपुर
उर्दू-हिन्दी-शिक्षक।
राय आत्माराम साहब, सिविल इञ्जीनियर, पटियाला
धर्म्मदिवाकर, अर्थात् मनुष्य का जीवन आदर्श।
पंडित ज्वालादत्त शर्म्मा, मुरादाबाद
सोऽहं तत्त्व।
पंडित केदारनाथ पाठक काशी
सच्चा मित्र प्रथम भाग।
स्वामी प्रकाशानन्द गिरि काशी
औरङ्गज़ेबनामा दूसरा भाग।
डाक्टर प्रियवरुण काशी
ब्रह्मदर्शन।
पंडित रामचन्द्र कालिकागली, काशी
आश्चर्यजनक घंटी।
मिस्टर एस. एच. होडवाला एम. ए. बहाउद्दीन कालेज, जूनागढ़
An analysis of Adam Smith's inquiry into the nature and causes of the wealth of nations—Books III-V.
बाबू महावीरप्रसाद गहमरी, स्वर्गमाला कार्यालय, काशी
स्वर्ग के रत्न
संयुक्त प्रदेश की गवर्न्मेंट
अध्यात्म रामायण, General Report on Public Instruction for the year ending 31st March, 1913.
खरीदी गईं तथा परिवर्तन में प्राप्त
विलायती रमणी, जापानी राज्यव्यवस्था,

रूसजापानयुद्ध भाग १, २, भारतमही, अबलाबलदर्शन, भारत इतिहास संशोधक मंडल अहवाल शके १८३२, १८३३ और १८३४ षाण्मासिक वृत्त शके १८३४, मराठ्यां का इतिहास चीं साधने खंड १२ वां, प्रथम संमेलन वृत्त, Indian Antiquary for October, 1913. Indian Thought Vol VI No. 1.

(१) सभापति को धन्यवाद दे के सभा विसर्जित हुई।

साधारण सभा

शनिवार ता० २८ फ़रवरी १९१४ सन्ध्या के ५३ बजे स्थान सभाभवन

(१) गत अधिवेशन (ता० ३१ जनवरी १९१४ का कार्यविवरण पढ़ा गया और स्वीकृत हुआ।

(२) प्रबन्धकारिणी समिति का ता० २९ नवम्बर १९१३ का कार्यविवरण सुचनार्थ पढ़ा गया।

(३) निम्न लिखित सज्जनों के फ़ार्म सभासद होने के के लिए उपस्थित किये गयेः—(१) बाबू मुकुन्द-लाल अजमतगढ़. पो० संगड़ी जि० आज़मगढ़ ५) (२) बाबू विन्ध्येश्वरीप्रसाद. ग्रामदेव पो० देव. जि० गया १॥) (३) डाकृर पेड़ामल साहब एम. डी. एस. आर. सी. एस. एल. आर. सी. पी. कूचा कलालां अमृतसर ३) (४) पंडित कैलाशपति भट्ट. चौखंडी. बिहार ३) निश्चय हुआ कि ये सज्जन सभासद चुने जांय।

(४) मेरठ के पंडित विजयशंकर शर्म्मा का इस्तीफ़ा उपस्थित किया गया और स्वीकृत हुआ।

(५) निम्नलिखित पुस्तकें धन्यवादपूर्वक स्वीकृत हुईं।

बाबू चतुर्भुजसहाय वर्म्मा. वृन्दावन

वेदान्ततत्त्वसुधा, वैद्यकतत्त्व, कविताकुसुम और श्रुतिसिद्धान्तरत्नाकर

मिसर्स एस. पी. ब्रादर्स एण्ड को. झालरापाटन

शुश्रूषा

श्रीमती महादेवीजी धर्म्म पत्नी बाबू ज्योतिःस्वरूप. वकील दिल्ली

धर्मपुस्तक प्रथम भाग २ (प्रति)

फूलों का हार चौथा भाग (२ प्रति)

बाबू व्योहार रघुवीरसिंह, तालुकेदार और आनरेरी मजिस्ट्रेट. जबलपुर

शास्त्रसिद्धान्त.

जैन मित्र कार्यालय

धनवीर सेठ हुकमचन्द्रजी का जीवन चरित

ठाकुर शिवकुमारसिंह.कर्वी. जि० बान्दा.

महाराज जार्ज पंचम का जीवनचरित.

ख़रीदी गई

विनयपत्रिका, आश्चर्यघटना, सुशीला चरित, योगवाशिष्ठसार. पतिव्रता, मानसदर्पण. रामाश्वमेध, समाज।

बदले में आईं

Indian Antiquary for November and December, 1913.

(६) सभापति को धन्यवाद दे सभा विसर्जित हुई।

—:o:—

सूचना और सम्मति।

सरकारी रिपोर्ट।

आज हम जिन रिपोर्टों को सम्मुख रख कर विचार किया चाहते हैं वे बंगाल, बम्बई, मद्रास, युक्तप्रदेश, पंजाब, अजमेर व मारवाड़ और मध्यप्रदेश तथा बर्म्मा गवर्न्मेंट की गत सितम्बर से दिसम्बर मास तक की हैं। किस प्रान्त में कितनी पुस्तकें राष्ट्रभाषा हिन्दी की निकली हैं यह इस कोष्ठ से विदित हो जायगाः—

बंगाल	बम्बई	मद्रास	युक्तप्रदेश
१४	३२	०	२२०
मध्यप्रदेश	अजमेर	पञ्जाब	बर्म्मा
११	१	१	०

पाठकों को यह देख कर बड़ा ही दुःख होगा कि मद्रास और बर्मा प्रान्त हमारी मातृभाषा से विरक्त सा हो रहा है। विशेष दुःख की बात तो यह है कि जब कि हमारे बंगाली भाइयों ने अकेले बंगाल ही से अपनी मातृभाषा की २८८ पुस्तकें प्रकाशित कीं—हम हिन्दीवाले, जिनकी मातृभाषा भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा होने का दावा रखती है, केवल २७९ पुस्तकें ही सब मिलाकर निकाल सके और इस प्रकार बंगाली भाइयों से पिछड़े रहे। यद्यपि यह देख संतोष होता है कि गुजराती, मराठी, सिन्धी, मारवाड़ी, गुरुमुखी, आदि भाषाओं की कितनी ही पुस्तकें तथा मद्रास सरीखे विरक्त प्रान्त की संस्कृत भाषा की सब पुस्तकें नागराक्षरों में प्रकाशित हुईं हैं तथापि इतने से काम नहीं चल सकता। गुजराती भाषा में "सरल देश नामा नी पद्धति" नामक पुस्तक के २५ संस्करण हुए और बराबर प्रत्येक संस्करण की ८००० प्रतियाँ छपती रहीं। मराठी भाषा में "महाराष्ट्रा चा गोष्टी रूप इतिहास" नामक पुस्तक के ४ संस्करण हुए और बराबर १५ हज़ार प्रतियाँ प्रकाशित होती रहीं। बंगला-भाषा में "बंग देशेर इतिहास" और "आदर्श-साहित्य-पाठ" नामक पुस्तकों के क्रम से १२ तथा ८ संस्करण हुए और तीन एवं पचीस हज़ार प्रतियाँ छपती रहीं। परन्तु हिन्दी भाषा की पुस्तकों को यह सौभाग्य नहीं प्राप्त है। यदि भाग्य से किसी पुस्तक के कई संस्करण हुए भी हैं तो आदर्श सखी (पृष्ठ संख्या ६, भजन) और विश्रामसागर के जिसका १० वाँ संस्करण ६००० का बिना मूल्य हुआ है। यह कितने खेद की बात है कि श्रीरवीन्द्रनाथ टागोर की प्रसिद्ध गीताञ्जलि का अनुवाद अँगरेज़ी में हो, उर्दू में हो, मराठी में हो, गुजराती में हो, यहाँ तक कि तैलगू भाषा में भी हो परन्तु हिन्दी-भाषा में न हो! नाटकों की तो कुछ बात ही न पूछिए। तैलगू भाषा में १९, बंगला में १५, गुजराती में १३, तामील में १०, और मराठी में जब ३ नाटक प्रकाशित हुए तब हमारी हिन्दी-भाषा में रो गाकर केवल तीन ही प्रकाशित हों, यह कितने दुःख की बात है। अब ज़रा समाचार पत्रों की ओर ध्यान दीजिए। हिन्दी के मासिक पत्रों में "सरस्वती" का स्थान सबसे ऊँचा है परन्तु उसकी प्रकाशन संख्या केवल ४७०० है जब कि मराठी भाषा के मनोरञ्जन की प्रकाशन संख्या ८०००, बंगला के प्रवासी की ६०००, भारतवर्ष की ५०००, स्वास्थ्यसमाचार की ५००० तथा बंगला "साहित्य और शिशु" की प्रकाशन संख्या ४००० है। हिन्दी-भाषा में मनोरञ्जन, औदुम्बर और इन्दु नामक मासिक पत्र दो दो चार चार वर्ष से निकल रहे हैं परन्तु इन सभों की प्रकाशन संख्या केवल ५०० है जब कि गुजराती भाषा के "गपशप" एवं मराठी भाषा के "मधुकर" नामक पत्रों की संख्या, जिन्हें प्रकाशित होते अभी केवल एक ही वर्ष हुआ, क्रम से २००० और १२०० है। मराठी "चित्रमय जगत्" की ३५०० प्रतियाँ छपती हैं। यह एक आनन्द का विषय है कि "प्रभा" और "चित्रमय जगत्" की भी १००० प्रतियाँ प्रकाशित होती हैं और करीब करीब सभी खप भी जाती हैं, परन्तु एक बूँद जल से प्यास नहीं बुझती। बंगला भाषा में जैसा "नाट्य मंदिर" निकलता है मराठी भाषा में वैसा ही "रंग मंच" नामक पत्र प्रकाशित होता है। उसकी ग्राहक संख्या भी १००० के लगभग है, परन्तु हिन्दी में वैसा एक भी पत्र नहीं। यह सब लिखने का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि हिन्दी-भाषा में लोग काम नहीं कर रहे हैं। मेरा यह तात्पर्य है कि हिन्दी की अवस्था अभी शोचनीय है। जो लोग कार्य कर रहे हैं उनमें निस्वार्थी बहुत ही कम हैं। इन में भी शुद्धचित्त से कार्य करनेवाले इने गिने हैं। इसी से हमारी यह दशा है। शुद्धचित्त से, निस्वार्थ भाव से, यदि कुछ लोग ही इस साहित्य-क्षेत्र में कार्य करने के लिये तत्पर हो जाँय तो भी बहुत कुछ कार्य हो सकता है।*

—:o:—

*यह नोट काशीनिवासी श्रीयुत साँवलजी नागर ने कृपा कर भेजा है। प० सं०।

मनोरंजन पुस्तकमाला।

अर्थात्

हिन्दी में विविध विषयों पर सर्वोत्तम १०० ग्रंथों की एक पुस्तकावली, जो एक ही आकार में एक ही प्रकार के काग़ज़ पर तथा एक से अक्षरों में छापी जायगी, जिसके प्रत्येक भाग की जिल्द कपड़े की एक सी सुन्दर होगी, जिसके प्रत्येक ग्रंथ की भाषा सरल, मुहाबिरेदार तथा पुष्ट होगी और जिसके किसी भाग में ऐसी कोई बात न आवेगी जो माता अपने पुत्र से पिता अपनी कन्या से अथवा भाई अपनी बहिन से कहने वा समझाने में असमर्थ हो या संकोच करे।

सम्पादक

श्यामसुन्दर दास, बी० ए०

लेखक

साहित्याचार्य पंडित रामावतार शर्म्मा एम० ए०, पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय, पंडित गणपत जानकी राम दुबे बी० ए०, पंडित द्वारका प्रसाद चतुर्वेदी, पंडित माधव राव सप्रे बी० ए०, बाबू वृन्दाबन लाल बी० ए०, बाबू हरिकृष्ण अग्रवाल, बाबू राधामोहन गोकुल जी, बाबू जगन्मोहन वर्म्मा, पंडित रामचन्द्र शुक्क, लाला भगवानदीन, पंडित गणेश बिहारी, मिश्र, बाबू अमीरसिंह, बाबू रामचन्द्र वर्म्मा, पंडित रामनारायण मिश्र बी० ए०, पंडित चन्द्रमौलि शुक्क एम० ए०, ठाकुर सूर्यकुमार वर्म्मा, ठाकुर गदाधरसिंह, ठाकुर महेन्दुलाल गर्ग, बाबू कृष्णबल्देव वर्म्मा, पंडित हरिराम दिग्वेकर एम० ए०, बाबू बेणीप्रसाद, बाबू ब्रजनन्दन सहाय बी० ए०, प्रोफेसर बसंतलाल बी० एससी०, बाबू संपूर्णानन्द बी० एससी०, बाबू शिवप्रसाद गर्ग, बाबू रामदास गौड़ एम० ए०, पंडित रघुनाथ बलवन्त भागवत, पंडित लज्जाराम मेहता, बाबू कन्हैयालाल भार्गव, पंडित केशवराम जोशी, पंडित मन्नन द्विवेदी बी० ए०, पंडित हीरा नन्द शास्त्री एम० ए०, बाबू हरिकृष्ण जौहर, पंडित बद्रीनाथ भट्ट बी० ए०, पंडित जीवनशङ्कर याज्ञिक, बाबू सूर्यनारायण बी० ए०, बाबू काशीप्रसाद जायसवाल एम० ए०, पंडित श्यामबिहारी मिश्र एम० ए०, पंडित शुकदेवबिहारी मिश्र बी० ए०, बाबू दयाचन्द बी० ए०।

प्रकाशक

काशी नागरी प्रचारिणी सभा

मूल्य

प्रति पुस्तक ।।।) रु० डाक व्यय अतिरिक्त

जो लोग एक साथ ७५) रु० भेज देंगे उन्हें १०० पुस्तकें बिना किसी अन्य प्रकार के व्यय के भेज दी जाँयगी। जो लोग ५) रु० पेशगी भेजकर ग्राहक श्रेणी में अपना नाम लिखावेंगे उन्हें ५० पुस्तकें बिना डाक व्यय लिए ।।।) में भेजी जाँयगी तथा फिर ५) रु० जमा करने पर बाकी ५० पुस्तकें इसी प्रकार भेजी जाँयगी। फुटकर संख्याएँ लेने वालों से प्रति पुस्तक का मूल्य १) रु० डाक व्यय अतिरिक्त लिया जायगा।

मिलने का पता

मंत्री नागरी प्रचारिणी सभा,

बनारस सिटी।

इस पुस्तकमाला का छपना प्रारम्भ हो गया है। पहली पुस्तक शीघ्रही प्रकाशित हो जायगी। प्रत्येक मास में दो पुस्तकों के प्रकाशित करने का दृढ़ संकल्प है।

इस पुस्तकमाला के लिए निम्नलिखित ग्रंथों के लिखे जाने का प्रबंध हो चुका है।

(१) चंदबरदाई के पृथ्वीराज रासो के उत्तम अंशों का संग्रह

(२) कबीरदास के ग्रन्थों के उत्तम उत्तम अंशों का संग्रह

(३) जायसी की पद्मावती के उत्तम अंशों का संग्रह
(४) सूरदास के मनोहर अंशों का संग्रह—दो खंडों में
(५) तुलसीदास—रामायण, कवितावली, गीतावली तथा विनयपत्रिका के उत्तम उत्तम अंशों का संग्रह-दो खंडों में
(६) बिहारी, रसनिधि और रसलीन के उत्तम उत्तम दोहों का संग्रह
(७) केशवदास की रामचंद्रिका, रसिकप्रिया और कविप्रिया के उत्तम उत्तम अंशों का संग्रह
(८) रहीम, गिरिधर राय, वृंद, और दीनदयाल गिरि की कविता के उत्तम उत्तम अंशों का संग्रह
(९) भूषण, चंद्रशेखर और लाल के ग्रंथों से ओजस्वितापूर्ण तथा हृदयग्राही अंशों का संग्रह
(१०) पद्माकर और ठाकुर की उत्तम कविताओं का संग्रह
(११) घनानंद और रसखान की कविता के उत्तम अंशों का संग्रह
(१२) मतिराम, चिंतामणि, श्रीपति तथा सेनापति की कविताओं के उत्तम अंशों का संग्रह
(१३) नागरीदास, और नन्दास की कविताओं के उत्तम अंशों का संग्रह
(१४) दूलह, देव और दास " "
(१५) गिरधरदास (गोपालचंद), गुमान और बलभद्र
(१६) सिक्खों के ग्रंथसाहब के उत्तम अंशों का संग्रह
(१७) स्माइल के क्यारैक्टर (Character) नामक ग्रन्थ का छायनुवाद उदाहरण सहित
(१८) स्माइल के ड्यूटी (Duty) नामक ग्रन्थ "
(१९) " थ्रिफ़्ट (Thrift) ' "
(२०) " सेल्फ हेल्प (Self-help) "
(२१) लबक के प्लेज़र्स आफ़ लाईफ़ (Pleasures of life) दो खंडों में
(२२) लबक के यूसेज़ आफ़ लाइफ़ (Uses of life) नामक ग्रंथ का छायानुवाद उदाहरण सहित
(२३) ब्लैकी के सेल्फ़-कल्चर (Self-culture) "
(२४) ईजिप्ट का उदय और अस्त
(२५) रोम " "
(२६) यूनान " "
(२७) भारतवर्ष की ऐतिहासिक घटनाएँ
(२८) मुसलमानों का उदय और अस्त
(२९) सिक्खों का उदय और अस्त
(३०) मरहठों का उदय और अस्त
(३१) चीन का इतिहास
(३२) भारतवर्ष के दृश्य, १ भाग—उत्तर भारत तथा राजपूताने के मुख्य मुख्य स्थानों का वर्णन
(३३) " २ भाग—बंगाल और दक्षिण भारत के मुख्य मुख्य स्थानों का वर्णन
(३४) राजपूताने की ऐतिहासिक कहानियाँ
(३५) संसार का इतिहास, दो खंडों में
(३६) भारतवर्ष की प्रधान लड़ाइयाँ
(३७) ब्रिटिश शक्ति का प्रसार
(३८) नेपोलियन का जीवनचरित
(३९) लिंकन "
(४०) गारफ़ील्ड "
(४१) वाशिंगटन "
(४२) गैरीबाल्डी का जीवनचरित
(४३) मेज़ीनी "
(४४) महारानी विक्टोरिया "
(४५) पृथ्वीराज "
(४६) अशोक "
(४७) अकबर "
(४८) औरंगज़ेब "
(४९) शिवाजी "
(५०) रणजीतसिंह "
(५१) राणा प्रताप "
(५२) भीष्म पितामह "
(५३) दयानन्द सरस्वती "
(५४) महादेव गोविंद रानाडे "
(५५) गौतम बुद्ध "
(५६) गुरु गोविंदसिंह "
(५७) शंकराचार्य "
(५८) नाना फड़नवीस "
(५९) जंगबहादुर (नैपाल) "

(६०) सालार जंग (हैदराबाद) "
(६१) कृष्ण "
(६२) रानी लक्ष्मी बाई "
(६३) अहिल्याबाई "
(६४) बालाजी विश्वनाथ "
(६५) महादाजी सीधिया "
(६६) गुजराती भाषा के उपन्यास "सरस्वतीचन्द्र" के आधार पर एक उपन्यास
(६७) अङ्गरेज़ी के "सिलास मार्नर" उपन्यास के आधार पर एक उपन्यास
(६८)
(६९)
(७०)
(७१)
(७२)
(७३)
(७४)
(७५) } उपन्यास
(७६) Plain living and high thinking के आधार पर एक ग्रन्थ
(७७) Up from slavery " "
(७८) Indian Antiquities पर एक ग्रंथ
(७९) Jurisprudence—शास्त्र के प्रधान प्रधान सिद्धान्तों का वर्णन
(८०) Political Economy—के मुख्य सिद्धान्तों का वर्णन
(८१) Moral Philosophy
(८२) Psychology
(८३) Biology
(८४) Botany } के सिद्धांतों का वर्णन
(८५) Sociology—के सिद्धांतों का वर्णन
(८६) Man's place in Nature के आधार पर एक ग्रन्थ
(८७) The Riddle of the Universe के आधार पर एक ग्रन्थ
(८८) The History of Creation के आधार पर एक ग्रन्थ
(८९) Buckle's History of Civilization के आधार पर एक ग्रन्थ
(९०) Physics—के सिद्धांतों का वर्णन
(९१) Geology के सिद्धांतों का वर्णन
(९२) Chemistry के सिद्धांतों का वर्णन
(९३) Astronomy के सिद्धांतों का वर्णन
(९४) Electricity के सिद्धांतों का वर्णन
(९५) Engineering के सिद्धांतों का वर्णन
(९६) शासनपद्धति
(९७) Mill's On subjugation of women के आधार पर
(९८) Mill's Representative Government के आधार पर।
(९९) राजतीति शास्त्र।
(१०० भारतवर्ष का भौगोलिक, ऐतिहासिक औद्योगिक तथा शासन संबंधी वर्णन।

—:o:—

नागरीप्रचारिणी पत्रिका।

भाग १९ } मार्च और अप्रैल, १९१४. { संख्या ९—१०

जुझार तेजा ।

(लेखक—पण्डित लज्जाराम मेहता ।)

अध्याय १

चरित्र में चमत्कार ।

जुझार तेजा का नाम किसी इतिहास में नहीं है। उसके पैदा होने के साल संवत् का भी अभी तक किसी को पता नहीं। यहां के पढ़े लिखे विद्वान् जब उसके चमत्कारों को वाहियात ढकोसला समझते हैं, जब कि उनकी उपेक्षा से भारतवर्ष के इतिहास का एक बहुत बड़ा ख़ज़ाना बड़े बूढ़ों के मन-मंदिर में छिपा हुआ है, जब कि प्राचीन वीरों, महात्माओं और विद्वानों का चरित्र-संग्रह परम्परा से बाप दादों की धरोहर में मिलने पर भी हमारी बेपरवाही की आँधी के झोंकों से दिन दिन नष्ट होता चला जा रहा है अथवा हमारी कृतघ्नता की कड़ी धूप से दिन दिन क्षीण होता जा रहा है तब यहाँ के इतिहास में तेजा जुझार का वर्णन न हो तो आश्चर्य्य नहीं; किन्तु राजपूताने की "दंतकथा में" तेजा का आसन ऊँचा है। उसकी असाधारण बहादुरी, उसका अप्रतिम साहस, उसका अद्वितीय प्रतिज्ञापालन, उसकी असीम सत्यनिष्ठा और उसका अनुकरणीय आत्मविसर्जन राजपूताने के लाखों आदमियों के हृदय की पट्टी पर दृढ़ता की लेखनी से चिरस्थायी है। जुझार तेजा पढ़ा लिखा नहीं था, वह उन वीर राजपूतों में से नहीं था जो अपने असामान्य गुणों को दुनिया के इतिहास में सदा के लिये अमर कर गए हैं और वह उन जाटों में से भी नहीं था जिन्होंने भारतवर्ष में एक नहीं अनेक राज्य स्थापित करके अपना नाम वीरों की फ़िहरिस्त में लिखवा लिया है।

तेजा जाट एक साधारण खेतिहर था। इस बात का कहीं पता नहीं लगता कि उसने कभी किसी उस्ताद से हथियार चलाना सीखा हो; किन्तु उसकी असीम प्रतिभा ने उसका नाम अमर कर

दिया। लोग देवताओं की तरह उसकी पूजा करते हैं। जब राजपूताना के लाखों आदमियों को विश्वास है कि उसका नाम लेकर "डसी" बाँध देने पर साँप का काटा हुआ मरता नहीं है तब वह अवश्य पूजने योग्य है। उसने यह साबित कर दिया है कि पूजन में जाति पांति की उच्चता की आवश्यकता नहीं है। चाहे ब्राह्मण हो अथवा चमार ही क्यों न हो—दुनिया में आदर गुणों का है। अथवा एक साधारण से भी साधारण मनुष्य को ऊँचा बनने के लिये तेजा के से गुण ग्रहण करने की आवश्यकता है। पुराणों में जो नीचे से ऊपर को पहुँचे हैं वे किसी विश्वविद्यालय की डिगरी लेकर नहीं। मनुष्य के ऊपर चढ़ाने के लिए तप चाहिए और जिनमें तप होता है उनको ऊँचा बनने की आवश्यकता नहीं है। तेजा एक साधारण किसान—एक सामान्य जाट—होने पर भी ब्राह्मणक्षत्रियों से पूजा जाता है, वह अपढ़ होने पर भी विद्वानों का वंदनीय है और वह किसी समय मनुष्य-देह धारण करने पर भी अब देवता है।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध इतिहास-लेखक जोधपुर-निवासी हमारे गौरवास्पद मुंशी देवीप्रसादजी ने अपनी खोज से पता लगाया है किः—

"जाटों में तेजा धौलिया क़ौम का खडनाल परगने नागौर राज्य जोधपुर का रहनेवाला था। उसका विवाह गाँव पनेर राज्य किशनगढ़ में हुआ था। जब वह अपनी स्त्री को लेने पनेर गया उस समय वहां के गूजरों की गायें घेर कर मीने लोग ले जा रहे थे। गूजरों की पुकार जब किसी ने नहीं सुनी तब तेजा उनकी मदद पर चढ़ दौड़ा। वह लड़ कर उनसे गायें अवश्य छुड़ा लाया परन्तु वह भी स्वयं बहुत घायल हो कर गिर पड़ा। वहाँ एक साँप बैठा था। उसने उसकी ज़बान पर काट खाया और इस तरह जब वह मर गया तो उसकी स्त्री उस पर सती हो गई।"

राजपूताने में ऐसा कोई गाँव नहीं जहाँ भाद्र-शुक्ला १० को तेजा का पूजन न होता हो। पूजन होता है "डसी" काटने के लिए। ढोलक पर अलगोजे बजा बजा कर लोग उसे पहले ख़ूब रिझा लेते हैं फिर उसका पूजन करके तब "डसी" काटते हैं। साल भर के किसी दिन, किसी समय, किसी अवस्था में मनुष्य को चौपाए को, किसी को चाहे जैसे महा भयंकर ज़हरीले साँप ने डस लिया हो उसके घरवाले, संगी साथी अथवा अड़ोसी पड़ोसी दवा के लिए किसी अस्पताल में दौड़े नहीं जायँगे, किसी वैद्य से अथवा किसी हकीम से जा कर यह नहीं कहेंगे कि "हमें दवा दो"। और जब दुनिया में अभी तक ऐसी "रामबाण" दवा का आविष्कार ही नहीं हुआ अथवा हुआ भी तो उसके आगे अज्ञानांधकार का परदा पड़ा हुआ है अथवा उन लोगों के लिये हर जगह सुलभ नहीं तब दौड़ कर जाने से, किसी से दवा माँगने से लाभ ही क्या? बस वे लोग उसी समय चाहे जिसके सिर का साफा, पगड़ी अथवा और कपड़ा लेकर उसे लंबाई की ओर फाड़ते हैं। फाड़ कर उसे थोड़ा सा बटते हैं और तब "जय तेजा राजकुमार! तेजाजी की जय!" कह कर उस बीमार के गले में बाँध देते हैं। लाखों का विश्वास है कि रोगी मरने नहीं पाता। उसका ज़हर उस समय अवश्य "छूमंतर" हो जाता है। उस समय इतना ज़रूर करते हैं कि रोगी को एक दिन रात सोने नहीं देते। ज़हर यदि ज़ोरदार हुआ तो "बाबा तेजाजी" की मन्नत भी मानते हैं। वह कपड़ा जो "डसी" के नाम से प्रसिद्ध है यदि भाद्रपद शुक्ला १० से पहले काट डाला जाय अथवा टूट पड़े तो सर्पदंश से महीने, दो महीने अथवा आठ दश महीने तक भी रोगी के मर जाने का भय है। इसलिए उस "डसी" की ख़ूब रक्षा रखनी चाहिये।

बस भाद्रपद शुक्ला १० के दिन उस रोगी को लेकर "डसी" काटने के लिए तेजाजी के "देवल" पर जाते हैं। वह रोगी वास्तव में किसी दिन रोगी अवश्य था किन्तु आज हट्टा कट्टा तन्दुरुस्त है। उसके नख में भी रोग का नाम नहीं। वह जेठ की दुपहरी

में ख़ूब हल जोतता है, सावन की झड़ियों में घंटों तक अपने शरीर पर मेह झेल कर निरानी करता रहता है और जाड़ों की रात में जंगल में पड़े रहने पर भी उसे कभी ज़ुकाम नहीं होता है। जिस व्यक्ति को विषधर सर्प ने काट खाया था उसकी यह वर्ष भर के तीन सौ उनसठ दिनों की दिनचर्या है किन्तु भाद्रपद शुक्ला १० के दिन एक बार फिर उसे रोगी बनना पड़ता है। यह दशा यदि केवल मनुष्य की हो तो कहा जा सकता है कि यों ही ढोंग करता है अथवा साँप के भय ने उसे विकल कर दिया है किन्तु गाय बैलों को, घोड़े गदहों को, भैंसों को "डसी" काटते ही साँप का ज़हर चढ़ते देखा है। दिनों पूर्व—महीनों पहले आदमी अथवा जानवर की जो दशा साँप के काटने पर हुई थी वही तेजाजी की मूर्ति के सामने भाद्रपद शुक्ला १० के दिन विद्यमान् है। वैसा ही ज़हर का चढ़ाव और वैसी ही लहरें आना। ख़ैर "डसी" काटते समय चार आदमी उसे इस तरह पकड़े रहते हैं कि वह गिरने न पावे। "गिरा सो गया" ही लोगों का सिद्धान्त है। नीम के मौर से तेजाजी की मूर्त्ति के स्नान के जल को छिड़के यही उस समय इलाज है। बस यों तेजाजी के "देवल" की सात प्रदक्षिणा करते करते वह भला चंगा हो जाता है। ऐसा लाखों आदमियों का विश्वास है। इसी विश्वास से, इसी श्रद्धा से, वे "जुझार तेजा" का पूजन करते हैं और "जहाँ विश्वास है वहाँ विकाश है।" इस सिद्धान्त से उनकी कामना पूर्ण होती है। वे यहाँ तक मानते हैं कि तेजाजी के मंदिर के निकट कहीं न कहीं एक श्वेत सर्प अवश्य रहता है। कितने ही लोग कहते हैं कि हमने दर्शन किए हैं। लोगों के सिद्धान्त के अनुसार यही तेजाजी हैं। और जब लाखों आदमी उनसे कार्य की सिद्धि पाकर काल के चंगुल से अपने प्राणों को बचानेवाले, अपने स्वजनों की रक्षा करनेवाले हैं, हज़ारों गाँवों में उनकी मूर्तियाँ स्थापित होकर उनका पूजन होता है तब इस बात को असत्य मानने से भी लाभ क्या? जिन महानुभावों को इस पर श्रद्धा न हो, जो इसे वाहियात बतला कर अपने द्वारा लोगों का "अंधविश्वास" छुड़ाना चाहते हों वे गावँ गावँ, घर घर सर्पदंश की दवा पहुँचा कर तब शताब्दियों के अनुभव को मिथ्या सिद्ध करने का यत्न करें।

कुछ भी हो उसके चरित्र के लिये आगे के कुछ पृष्ठों का अवलोकन करने पर पाठकों को विदित हो जायगा कि एक सामान्य किसान किन उत्कृष्ट गुणों के कारण इस तरह लाखों आदमियों से पूजा जाता है। जो चमत्कार के उपासक हैं वे उसके चमत्कार का और जो गुणों के भक्त हैं वे उसके गुणों का पूजन करें।

अध्याय २

माना का ताना।

हाड़ौती, मेवाड़, मारवाड़ और अजमेर जहाँ जहाँ तेजा का आदर है वहाँ वहाँ की भाषा में उसका गुण-कीर्तन किया जाता है। उसके जन्म से लेकर शरीरान्त तक की कथा का ही इस गायन में वर्णन है। कविता किसी साहित्य-शिरोमणि विद्वान् की नहीं, यमक, अनुप्रास, श्लेष और काव्य की ऐसी ऐसी बारीकियों का उसमें लेश तक नहीं और न उसमें रसिक जनों के मनों को आर्द्र कर देने के लिये शृंगार रस है और न उनके लिये "लपटाने दोऊ पट ताने परे हैं"—की छटा है; किन्तु उस तुकबंदी का भाव बड़ा महत् है और उसके अक्षर अक्षर में जोश भरा हुआ है। चौमासे के दिनों में जिस समय काली घटाएँ छा छा कर दिन को रात बना देती हैं, मेंह बरस बरस कर नालों को नदियाँ बना देने की वाहवाही लूटता है और धरती हरी भरी धोती ओढ़ कर अपना मनमोहन सौन्दर्य छिपा रखती है उस समय यहाँ के किसान गले में ढोलक लटका कर अलगोजों के साथ नाचते जाते हैं और लड़ा लड़ा कर "तेजाजी" गाते जाते हैं। गाते समय वे सचमुच अपना आपा भूल जाते हैं, उनके सिरों पर से साफे गिर गये तो कुछ परवा नहीं

ग्रैार तंबाकू पीने की यदि उन्हें चाट भी लग रही है तो कुछ चिंता नहीं। यह गायन, यह नृत्य तेजा-दशमी से पहले होता है।

मुंशी देवीप्रसादजी की खोज का जो वर्णन प्रथम अध्याय में है वह केवल मारवाड़ के गायन के आधार पर है ग्रैार उसके अतिरिक्त इस लेखक को जो लिखना है वह हाडैाजी के गायन का सारांश है। मुंशी जी की तलाश में ग्रैार हाडैाजी के गायन में थोड़ा बहुत अंतर है। मुंशीजी उसे खड़-नाल परगने नागोर राज्य जोधपुर का रहनेवाला बतलाते हैं ग्रैार हाड़ोतीवालों की राय में वह रूप-नगर राज्य किशनगढ़ का निवासी था। ससुराल दोनों ही ने पनेर में बतलाई है किन्तु मुंशीजी के मत से पनेर किशनगढ़ के राज्य में है ग्रैार हाड़ौती वाले अपने गायन में इस बात का पता नहीं देते कि यह गाँव किस राज्य में है ग्रैार कहाँ पर है। ख़ैर! हाड़ोतीवालों के मत से इस बात का यदि पता न चले तो मत चलने दीजिये किन्तु कुछ पृष्ठों के अवलोकन से विदित हो जायगा कि पनेर किशन-गढ़ के राज्य में नहीं किन्तु ऐसी जगह पर है जहाँ जाने के लिये तेजा को बनास नदी पार करनी पड़ी थी।

अस्तु इतना पता अवश्य लग गया है कि तेजा के बाप का नाम बख़्शाराम था ग्रैार तेजा को बदना जाट की बेटी ब्याही थी। जिस समय वह केवल छः महीने का था तभी उसका विवाह कर दिया गया था। इतनी जल्दी विवाह क्यों किया गया सो मालूम नहीं किन्तु गाँववालों की कविता में कहा जाता है कि:—

"थाली में परणायो रे कँवर तेजा
ऊँडो ऊँडो भादूडो सो गाजै रे।"

बस यह कविता इस बात की गवाही दे रही है। गाँववाले अपने गीत में तेजा के केवल इस जन्म का ही हाल सुनाते हों सो नहीं उन्हें किसी तरह मालूम हो गया होगा कि यह पूर्व जन्म में कौन था ग्रैार किस तप के प्रभाव से इस जन्म में ग्रथवा मृत्यु के बाद इतना पूजनीय समझा जाने लगा। वे कहते हैं कि पूर्व जन्म में भी तेजा गायों का ग्वाल था। गाँव की गायें चराना ही शायद उसका पेशा था। ग्रपनी गायें चराने के लिये वह नित्य जंगल में जाया करता था। एक दिन ग्रकस्मात् उसे किसी महात्मा के दर्शन हो गए। तेजा ने उनकी बहुत सेवा की। फल यह हुग्रा कि एक दिन महात्मा ने प्रसन्न होकर उससे कहाः—"बेटा माँग! जो माँगेगा सो ही पावेगा।" उसने हाथ जोड़ कर उनके पैरों में पड़ कर प्रार्थना की "महाराज, जो ग्राप मुझसे सचमुच प्रसन्न हुए हैं तो मुझे ऐसा वरदान दीजिये जिससे मेरा नाम होवे ग्रैार लोग मुझे पूजने लगें।" इस पर महात्मा बोले—"बेटा तू जंगली गँवार है। न तो तू भक्ति जानता है ग्रैार न ज्ञान: फिर किस बल से मैं बताऊँ कि तू महात्मा बन जायगा। ग्रच्छा भगवती यमुना महारानी के तट पर जा कर तपस्या कर, तेरा कल्याण होगा।" वह बोला—"महाराज जब ग्रापका वरदान है तब कल्याण ग्रवश्य होगा परन्तु मैं गायें चराने के सिवा ग्रैार जंगल के बबूल खेजड़ों के सिवा यह भी तो नहीं जानता हूँ कि तपस्या किस चिड़िया का नाम है।" इस पर साधु ने योग की साधना का कुछ प्रकार बतला कर उसे यमुना तट के किसी वृक्ष विशेष पर उलटे लटकने का उपदेश दिया। हठयोग का साधन करते हुए वर्षों तक वह कदंब के वृक्ष तले उलटा लटका रहा। बस यों लटके लटके ही उसके प्राणपखेरू उड़ गये। उसकी इस तरह मृत्यु हो जाने के बाद यमुना जल में उसके शरीर से रक्त की बूँदें गिर कर पुष्प बन कर बहने लगीं। उस पुष्प को लछमा (लक्ष्मी) जाटनी उठा लाई ग्रैार उसी के प्रभाव से उसके तेजा का जन्म हुग्रा। इसके तारा ग्रैार फूलचा-ये दो नाम ग्रैार भी थे किन्तु वह प्रसिद्ध हुग्रा तेजा के नाम से।

ग्रब तेजा के पूर्व जन्म की कथा को कोई माने या न माने उन्हें ग्रधिकार है किन्तु इतना ग्रवश्य मानना पड़ेगा कि पूर्व जन्म के किसी ऐसे ही उत्कृष्ट

तप के प्रभाव से खेतिहर तेजा तेजस्वी तेजा बन गया। यदि उसके हाथ से कोई ऐसा कार्य न बना होता तो तेजा में इस जन्म में कभी ऐसा गुण आना संभव न था, कभी उसे ऐसे असाधारण पराक्रम करने का, प्रतिज्ञापालन का और सत्यनिष्ठा का सौभाग्य ही प्राप्त होना असंभव था और इस तरह उसकी पूजा होना भी महा कठिन! अस्तु जो कुछ हो तेजस्वी तेजा के पूर्व जन्म की यही कहानी है।

यह पहले लिखा जा चुका है कि तेजा का विवाह केवल छः महीने की उमर में हो चुका था; किन्तु कहा जाता है कि जब तक उसका वय पचीस वर्ष का न हो गया उसे यह ख़बर भी न होने पाई कि उसकी शादी हुई है या नहीं। भला जब वह निरा गोद का बालक था तब यदि उसे ख़बर नहीं थी तो नहीं सही किन्तु पीछे से घर-वालों ने उसे क्यों नहीं जतलाया कि तेरा विवाह हो गया है। जब गोद के बच्चों के आगे बहू का नाम आते ही वे हँस पड़ते हैं, जब कुछ २ बड़े होने ही पर घर में बालक के विवाह की चर्चा होने लगती है और जब लड़का खेल खेलने में भी प्यारी दुलहिन का नाम लेकर मन ही मन राज़ी हुआ करता है तब यदि बेटे की शादी हो गई थी तो इस विवाह की बात उससे छिपाई क्यों गई? और जब उसे अपने विवाह होने की ख़बर तक नहीं थी तो उसने ही अपने संगी साथियों द्वारा इस बात का प्रस्ताव क्यों नहीं कर दिया कि—"मैं जब पचीस वर्ष का हट्टा कट्टा जवान हूँ तो मेरी शादी क्यों नहीं की जाती है" बेशक यह एक भेद है और इसका मतलब प्रकाशित होना न होना आगामी पृष्ठों का विषय है।

अस्तु! इस उमर में जब तेजा अपने ग्वाल भाइयों के साथ जंगल में गायें चराने जाया करता था तब वहाँ अपनी गायों को अपने भाइयों के भरोसे छोड़ कर भगवान् की आराधना किया करता था। किसी जलाशय के तीर पर जहाँ वह बैठा हुआ भजन कर रहा था कि वहाँ पानी भरने के लिये एक गूजरी आ निकली। तेजा शायद अपने ध्यान में इतना मस्त था कि उसे इस पनिहारी के आने तक की ख़बर न हुई। गूजरी थोड़ी देर तक खड़ी २ योंही उसकी ओर देखती रही परन्तु जब तेजा की आँखें नहीं खुलीं तब लाचार हो कर बोली:—

"भाई, ज़रा पानी तो भर लेने दो। मेरे घर का किवाड़ खुला हुआ है और बालक रो रहा है।"

"दूसरे घाट से (आँखें खोल कर) भर ले। हम इस समय ठाकुर-सेवा कर रहे हैं।"

"और दूसरे घाट पर मेरा पैर फिसल जाय तब? मेरी गागर टूट जाय, मेरी चूड़ी फूट जाय और न मालूम मेरे कहाँ २ चोट लग जाय। तू कब का ऐसा पंडित बन गया है जो घाट पर किसी को पानी तक नहीं भरने देता। तेरी लुगाई अपने बाप के यहाँ पड़ी २ तेरी जान को रो रही है और योंही अपनी जवानी खो रही है और तू यहाँ पंडित बना बैठा है।"

"हैं मेरी औरत! क्या मेरी विवाहिता? जब मेरी शादी ही नहीं हुई तब औरत आई कहाँ से? तू झूठ बोलती है। अच्छा जो सच्ची है तो खा कसम! खा अपने चूड़े की सौगंद या अपने छोटे भैया की?"

"मुझे ग़रज़ ही क्या पड़ी है जो मैं झूठ बोलूँ। क्या मुझे झूठ बोलकर तुझसे जागीर लेनी है? जिस गाँव में तेरी ससुराल है उसी में मेरा पीहर (मैका) है इसलिये मैं जानती हूँ और इसी लिये मैं सौगंद खाती हूँ।"

यों माना गूजरी के सौगंद खाने पर उसने जाना और साथ ही माना कि "मेरी शादी हो चुकी है।" बस पति और पत्नी के बीच में जो एक अलौकिक प्रेम होता है वह पत्नी का नाम सुनते ही उसके हृदय में लहरें मारने लगा। आजकल पचीस वर्ष के लड़के चार पाँच लड़कों के बाप बन जाया करते हैं किन्तु तब तक तेजा को स्त्री का शायद

संस्कार तक नहीं हुआ था। कामशास्त्र के विद्वानों की तरह नहीं, ग्रामीणों के ग्राम्य धर्म का भी उसे थोड़ा बहुत ज्ञान होता तो अवश्य वह किसी न किसी तरह अपनी गृहिणी का पता पा सकता था। किन्तु आज ही अभी उसे ख़बर हुई और तुरंत ही वह पूजा पाठ समेट कर अपनी माता के पास पहुँचा। केवल पहुँचा ही क्यों उसने उदास होकर अपनी जन्मदात्री माता से पूछा :—

"मां! क्या मैं अभी तक कुँवारा ही हूं? मेरे संगी साथी इस सावनी तीज पर अपनी २ बहुओं को लाने के लिये अपनी २ ससुराल में जाने की तैयारी कर रहे हैं।"

"हैं! किस निपूते ने तुझे बहका दिया? किस मुई ने ऐसा बोल मार दिया! हाय! तीर की मार अच्छी और "बोल" की मार खोटी। जिसने तुझे बहकाया है उस पर—राम जी करें-बिजली गिरे।"

"नहीं मां! नहीं! जिन्होंने मुझसे कहा है उन्हें ऐसी गाली न दे। भगवान् करे उनका मंगल हो। वे फलें फूलें और सुख पावें। उन बिचारों ने तेरा बिगाड़ा ही क्या है जो तू उन्हें कोसती है! जिनके हाथ से हमारा कुछ नुकसान हो जाय उन्हें भी गाली देना अच्छा नहीं। बस तू मुझे जवाब दे कि मैं अभी तक ब्याहा हूँ या कुंवारा।"

"बेटा! बेशक तेरी शादी हो चुकी है। तू केवल छः महीने का था तब ही तेरा विवाह कर दिया गया था।"

"अच्छा तो तब मैं ससुराल जाऊँगा।"

"हां! जावेगा तो सही परंतु घर की लीला घोड़ी दुबली है।"

"नहीं मैं ज़रूर जाऊँगा। बस दिन निकलते ही रवाना।"

"हां हां! जायगा तो सही परंतु पहले अपनी बहन को तो ससुराल से ला। उसे गये बहुत अर्सा हो गया। औरों की लड़कियां दो दो फेरे पीहर हो गईं और तेरी बहन तब से ससुराल में पड़ी हुई है।"

मालूम होता है कि तेजा के और भाई भी थे; उनके नाम का कुछ पता नहीं परंतु भाई थे। तेजा ने कहा :—

"बहन को लिवा लाने के लिये छोटे भैया को भेज दे। और वह अभी बालक है तो चाचा को भेज दे।" मालूम होता है कि तेजा का बाप काम काज कुछ नहीं करता था क्योंकि माता ने जो पुत्र को उत्तर दिया उससे स्पष्ट है कि घर में कर्त्ता धर्त्ता इसका चाचा ही था। बस इस बहाने से चाचा भी जब न भेजा गया तब बहन को लाने के लिये माता की आज्ञा सिर पर चढ़ा कर तेजा तैयार हुआ।

अध्याय ३

शत्रुओं की चुनौती।

माता की आज्ञा को माथे चढ़ा कर तेजा को एक बार, थोड़े समय के लिये ससुराल जाने का संकल्प त्यागना पड़ा। वह जब बहन को लिवा लाने के लिये घर से विदा हुआ तब ख़र्च के लिये उसके साथ डेढ़ सौ रुपये बाँधे गये, एक घोड़ी उसकी सवारी के लिये दी गई और शायद बहन के लिये बढ़िया बैलों का एक तांगा। मालूम होता है कि तेजा आज कल के दरिद्र किसानों की तरह भूखा बंगाली नहीं था। अच्छी तरह खाता पीता था। यदि आजकल की तरह धरती पर अनाप शनाप लगान होती, मंहगी पर मंहगी और अकाल पर अकाल पड़ते रहते, टैक्स पर टैक्स लग जाते और घर गृहस्थी का ख़र्च बहुत बढ़ा चढ़ा होता तो बिचारे तेजा को घर की घोड़ी रखने का समय कहां से मिलता! ख़ैर चारे और दाने की जब बहुतायत थी तब किसान के घरू बैलों की जोड़ी अच्छी हो तो इसमें आश्चर्य क्या? परंतु तेजा को समधी के यहाँ लिवा ले जाने के लिये यह जोड़ी पसंद नहीं आई। उसने पूरे डेढ़ सौ रुपये ख़र्च करके एक बढ़िया जोड़ी ख़रीदी। इससे पाठक शायद यह समझ लें कि उस समय भी बैलों की जोड़ी का यही भाव था

जो अब हैं और आज कल गायों और बैलों के मारे जाने का नाम लेकर चौपाये मंहगे हो जाने की जो दुहाई दे रहे हैं वे भूलते हैं, सो नहीं। जैसा माल वैसा मोल। घोड़ा पचीस को भी मिल सकता है और पांच हज़ार में भी सस्ता। साधारण कामों के लिये उस समय चालीस पचास रुपये में जोड़ियाँ मिलती थीं। अस्तु तेजा ने जोड़ी ख़रीद कर राज्य की कोतवाली अथवा सायर में महसूल चुकवाया। कोतवाली अथवा सायर लिखने से प्रयोजन वही है जिसे गानेवाले चबूतरा कहते हैं और देशी रजवाड़ों में दोनों ही चबूतरा कहलाते हैं। सिद्ध होता है कि आज कल की तरह हिन्दू राज्य में रह कर भी बैल की बिक्री पर महसूल लेने का उस समय रवाज था।

तेजा की बहन का नाम राजा था। वह किस गाँव में ब्याही गई थी सो मालूम नहीं किन्तु तेजा वहाँ दो रात बीच में रह कर पहुँचा। इससे अनुमान होता है कि पचीस तीस कोस से कम न होगा। तेजा के समधी का नाम जैांरा था। गाँव के किसी पनघट की बावली पर तेजा शरीर कृत्य से निवृत्त होकर बहन से मिलने के इरादे से ठहर गया। गाँव की पनिहारिनें जब वहाँ पानी भरने के लिये आईं तब उन्होंने बातचीत से उसे पहचाना और तब राजा को जा कर ख़बर दी कि—"तुझे लिवा ले जाने के लिये तेरा भाई आया है।" इन स्त्रियों में राजा की ननद भी थी। उसका नाम मालूम नहीं। ननद का पैगाम सुन कर राजा ने यह बात मिथ्या समझी। वह बोली :—

"मुझे पीहर से आये बारह वर्ष हो गये। अभी तक जब किसी ने मेरी सुध नहीं ली तो अब कौन आने लगा! घर से निपूता ढोर खो जाने पर भी उसकी तलाश की जाती है। इसलिये नाहक मेरी दिल्लगी करके मुझे क्यों कुढ़ाती हो। उनके लेखे तो मैं मर गई।"

"नहीं २ भाभी कुढ़ो मत! उदास मत हो! मैं तुमसे दिल्लगी नहीं करती, सच कहती हूं। तुम्हें विश्वास न हो तो (अपनी चूड़ियाँ दिखाकर) सौगंद खाकर कहती हूँ कि तुम्हारा भाई आया है और पनघट की बावली पर ठहरा हुआ है।"

इससे पाठक समझ सकते हैं कि जब हिन्दु रमणियां पति के लिये स्वप्न में भी कभी अशुभ चिन्तन न करने का दावा करती हैं, जब चूड़ी की सौगंद उनके लिये सिर कट जाने से भी बढ़कर है और जब उन्हें मर जाना मंज़ूर परन्तु चूड़ी की क़सम खाना मंज़ूर नहीं तब राजा की ननद ने एक हलकी सी बात के लिये इतनी भारी क़सम क्यों खाई? उनकी ऐसी समझ में भूल नहीं किन्तु इस बात से यदि वे यह परिणाम निकाल लें कि हिन्दू समाज उस समय इतना गिर गया था कि पति की शपथ खाने में उसने किंचित् भी आनाकानी न की तो उनका यह भ्रम है। क़सम खानेवाली जाटनी थी जिनमें धरेते का रिवाज सदियों से चला आता है। हां, इससे यह नतीजा अवश्य निकल सकता है कि जिन जातियों में एक पति के मर जाने पर अथवा उससे खटपट हो जाने पर दूसरा खसम कर लेने की चाल है उनके यहाँ पति की क़दर इतनी ही है।

ननद के सौगंद खाने पर जब राजा को भरोसा हुआ कि सचमुच उसका भाई आया है तब वह फूले अंग न समा सकी। लोग कहते हैं कि पनघट की बावली से तेजा चल कर जब बहन के यहाँ गया तब नगर के लोग लुगाइयाँ उसे देखने को इकट्ठी हो गई थीं। सब आपस में कहते थे कि—"जिसे देखने की मुद्दत से अभिलाषा थी उसे आज आँखों से देख लिया।" बोध होता है कि या तो गांव के ज़मींदार का नातेदार समझ कर लोग तेजा को देखने आये हों अथवा तेजा की वीरता का डंका इससे पहले बज चुका हो; किन्तु अब से पहले उस ने कब कहाँ वीरता की सो पता नहीं। प्राचीन समय में द्विजों के यहाँ द्विज जब अतिथि होता था तब मधुपर्कादि से उसका सत्कार करने की जैसे चाल थी वैसे ही अपने किसी आत्मीय स्वजन प्यारे

पाहुने के आने पर उसके लिये आरती उतारने का काम सुहागिनी माता, बहन इत्यादि किया करती थीं। बस इसी तरह राजा ने तेजा का भी स्वागत किया। भारतवर्ष के भाषा काव्य में जैसे अत्युक्ति का बहुत आदर है वैसे ही इन गँवारों के गीत में भी कमी नहीं है। कहा जाता है कि मोतियों से थाल भर कर राजा ने भाई की आरती उतारी। मोती सच्चे थे अथवा झूठे सो राम जाने। शायद मोती नहीं ज्वार हो। ज्वार के दाने मोती से होते हैं। लोग सेर ज्वार के लिये सिर कटा दिया करते हैं। "ज्वार बिना कोई द्वार न आवे, जग में नाता ज्वारी का।" बस ऐसे भाई को बधा (?) लिया और तब दोनों ओर के कुशल प्रश्नों का समय आया। तेजा ने अपनी माता का सँदेसा बहन और उसकी सास को सुनाया। उसने अपने गांव की ख़बर सुनाते हुए कहा कि—"छोटा भाई अब इतना बड़ा हो गया है कि बछड़े चराने लगा है।" गाँववालों को अब तक भी अपनी उमर के साल याद नहीं रहते हैं। वे ऐसे ही इशारे से उमर बतलाया करते हैं। इसका मतलब यही है कि लड़के की उमर दश बारह वर्ष की है! ख़ैर बहुत वर्षों में भाई के आने पर बहन उसे उलाहना देने से भी न चूकी। उसने कह दिया:—

"ओ हो! हो! इतने वर्षों में आया! मैं तेरी सूरत भी अच्छी तरह न पहचान सकी। मैं तो भैया, पीहर का रास्ता तक भूल गई।"

इसके अनंतर बहनोई से मिलने की बारी आई। दोनों ओर से "जुहार साहब! जुहार!" हुई। साले का आतिथ्य सत्कार हुआ। नई हंडिया में चावल तैयार किए गए। वहाँ पर भी तेजा ने भगवान् के भजन पूजन में संकोच नहीं किया। तेजा का शृंङ्गार इस तरह का था। पैरों में चमकीला जूता, हाथ में भाला, धोबी से धुलाई हुई मिरजई और कंधे पर रंगीन धोती। माथे पर क्या था सो याद नहीं। भोजन करते समय तेजा की समधिन से यों बातें हुई:—

"समधिन, राजा को भेज दे। दस दिन वहाँ भी रह आवेगी। मेरी मा का इसके लिये बहुत जी लगा हुआ है।"

"नहीं इस समय मैं नहीं भेज सकती। बहू को भेज देने में मेरी खेती चौपट हो जायगी, और तो और परंतु दही कौन बिलोवैगा।"

इसके उत्तर में जब तेजा ने समधिन को एक भूरी भैंस देने का वादा किया तब वह राजा को भेज देने पर राजी हुई। यों सब लोगों से मिल भेंट कर राजा की सास के पैरों पड़ने के अनंतर वह बहन को लेकर वहाँ से चल दिया। वास्तव में मार्ग की रक्षा का उस समय आज का सा प्रबंध नहीं था। शायद तब इतनी आबादी भी नहीं थी। बहन की ससुराल और भाई के घर के बीच का रास्ता बिलकुल जंगल ही जंगल में हो कर था। पीलेखाल के पास उनको मीनों ने घेर लिया। तेजा सिर से पहले नाक कटाने वाला, मरे मारे बिना एक ही घुड़की में कपड़े लत्ते दे देनेवाला नहीं था। मीने भी बिना घायल किये अथवा बिना घायल हुए किसी को लूट लेना कायरता समझते थे। यदि कोई मुसाफ़िर चोरों के डर से चुपचाप कपड़े उतार देने को तैयार हो जाय तो वे कहा कहा करते थे कि—"यों देना हो तो, किसी ब्राह्मण को देना। हम खून निकाले बिना ऐसा दान नहीं लेंगे।" बस परिणाम यह हुआ कि दोनों ओर से लड़ाई ठन गई। तेजा बोला:—

"लड़ो बेशक! मैं भी रणभूमि को पीठ दिखानेवाला कुपूत कायर नहीं हूं। मारूंगा; और तुम सब को मार कर मरूंगा परंतु लड़ने झगड़ने से पहले (धरती में अपना बरछा रोप कर) इसे उखाड़ लो तब मुझसे संग्राम करने की हिम्मत करना।"

लोग कहते हैं कि तेजाने अपना भाला पत्थर में गाड़ दिया था। ख़ैर गाड़ा किसी जगह पर हो परंतु जब मीनों से बरछा उखड़ न सका तब वे यह कह कर कि:—

"अच्छा आज हम तुझे ज़िन्दा छोड़ देते हैं परंतु जब तू सुसराल जावेगा तब रास्ते के पहाड़ों में तुझ से ज़रूर बदला लेंगे।" चलने लगे।

"ख़ैर! मैं तब भी तुम्हें पानी का लोटा पिलाने के तैयार हूँ। बेशक! मेरी ससुराल ऐसी ही विकट जगह में है जहाँ लूट खसोट, मारकाट और डकैती का बाज़ार हमेशा गर्म रहता है।"

तेजा से ऐसा जवाब पाकर मन ही मन वैर लेने की प्रतिज्ञा करते हुए वे लोग वहाँ से चले गये और यह भी अपनी बहन के लिये हुए घर आ पहुँचा। घर पहुँच कर तेजा ने फिर वही ससुराल जाने की बात छेड़ी। माता ने बहुतसमझाया परंतु उसने माना नहीं। बड़े भाई और भैाजाई के नाम का पता नहीं परंतु भाभी ने उसे समझाया। उसने यहाँ तक कहडाला किः—

"जहाँ तेरी ससुराल है वहाँ "दौड़ों" का दैार-दैारा है। मैं तुझे एक की जगह दे।—एक मेरी सगी बहन और दूसरी चचेरी बहन—विवाह दूँगी। तू वहाँ मरने के लिये मत जा। वहाँ जायगा तो अवश्य मारा जायगा। मैंने स्वप्न में देखा है कि तुझे नाग डस गया और तेरा देवल बन गया। इसलिये प्यारे देवर मैं तुझे हरगिज़ न जाने दूँगी।"

जब उसकी ससुराल ऐसे भयंकर प्रदेश में थी तब उसके चचा और भाई ने उसे रोका क्यों नहीं अथवा उसकी मदद के लिये दस पाँच हथियारबन्द साथ क्यों न हुए—सो कोई नहीं कहता, परंतु यह निश्चय है कि यह अकेला ही जाने के तैयार हुआ। तेजा की घोड़ी का नाम लीला अथवा लीलाधरी था और उसका रंग समंद था। घोड़ी बड़ी मन-चली थी। जाने की तैयारी देखते ही वह रणोन्मत्त की तरह नाचने और उमंग दिखलाने लगी। तेजा ने तीर कमान, भाला, सिरोही, तलवार, तोड़ेदार बंदूक और कमर में कटार—इतने हथियार साथ लिये। उसके शिर पर सुरंग पगड़ी, उस पर कलंगी टँकी हुई थी। सब साज सामान से लस कर वह घोड़ी के पास गया और उसे चलने के लिये उता-वली देखकर ज्योंही वह घोड़ी पर चढ़ने लगा त्योंही उसकी मा, भैाजाई और बहन ने उसे पकड़ लिया। उन्होंने फिर भी उसे समझाया परंतु उसने किसी की एक भी न सुनी। बहन के पूछने पर उसने इकरार किया कि—"पीपल के जितने पत्ते हैं उतने ही दिनों में वापस आऊँगा।" बस इससे सबने समझ लिया कि "तेजा वापस आने के लिये नहीं जाता, मरने के जाता है।" यह समझ कर सब की सब रो पीट कर रह गईं और सचमुच ही तेजा मरने के लिये–मर कर अपना नाम अमर कर जाने के लिये घोड़ी पर सवार होकर वहाँ से चल दिया।

अध्याय ४

प्रतिज्ञा की परिसीमा।

जब तेजा अपने घर से सचमुच मरने मारने अथवा मर मिटने के लिये चला था, जब उसने माता और बहन तथा भैाजाई के हजार समझाने पर भी अपनी गृहिणी से मिलने की दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली थी और जब उसे मीनों की चुनौती के बदले के लिए, समर भूमि में अपने हाथों की परीक्षा देकर अपना नाम अमर कर जाना था तब मार्ग में यदि बुरे से भी बुरे शकुन हुए तो क्या? यद्यपि देहाती लोग शकुनों के बहुत कायल हैं, वे इस काम के समझते भी अच्छा हैं और अनुभव से अनेक बार सिद्ध हो चुका है कि शकुन झूठे नहीं होते हैं परंतु तेजा ने बुरे शकुनों की किंचित् भी परवा न की। निश्चय है कि तेजा गँवार देहाती होने पर भी कर्त्तव्य-दक्ष था। वह जानता था कि आदमी अपने कर्त्तव्य-पालन के लिये पैदा हुआ है। वह नितांत निरक्षर होने पर भी जानता था कि चाहे कोई प्रशंसा करे अथवा निन्दा, चाहे धन आवे अथवा चला ही क्यों न जाय, चाहे आजही शरीर छूट जाय अथवा सौ वर्ष बाद परंतु धीर पुरुष न्याय का मार्ग नहीं छोड़ते हैं। वह सचमुच हीः—

"निन्दन्तु नीतिनिपुणाः यदि वा स्तुवन्तु ।
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ॥
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा ।
न्याय्यात्पथः प्रविचलंति पदं न धीराः ॥"

इस लोकोक्ति का ज्वलन्त उदाहरण था। बस इसलिये उसने अपनी जन्मदात्री माता की आज्ञा को तुच्छ समझा; देहातियों के लिये जिन शकुनों पर ही उनकी दुनियादारी का आधार है, जो ज्योतिष के मेघ गर्भों से, गवर्नमेंट की मेटिरिओलांजिकेल रिपोर्ट से वृष्टि खेती और फसल के काम में हज़ार दर्जे ठीक मिलते हैं उन्हें पैरों से रौंद कर चला और यों उसने दिखला दिया कि जिसे कुछ कर दिखाना है उसके लिये ये तिनके के समान रद्दी हैं।

उसे मार्ग में काले और खाली कलश लिये कुंआरी मिली, उसके सामने काले बैलों की जोड़ी जुती हुई गाड़ी मिली, उसके जाते समय बाईं ओर गीदड़ बोला, और इसी तरह खोटे से खोटे अपशकुन उसे होते गये। जब तैजा ऐसे ऐसे भयंकर अपशकुन देखने पर भी न डरा, न लौटा और उसने अपना संकल्प न बदला तब यदि शकुन देखते ही मनमें एक बार दगदगा भी हुआ तो क्या और न हुआ तो क्या!

अस्तु! जिस समय वह यों घोड़ी दौड़ाता चला जा रहा था उस समय एकाएक उसकी नज़र जलते हुए जंगल पर पड़ी। वहाँ का जंगल जल जल कर भयंकर ज्वालाएं उगल रहा था, चारों ओर धुआँ ही धुआँ होकर आकाश धुआँधार हो रहा था। जो पशु और पक्षी भाग कर, उड़कर अपना प्राण बचा सकते थे वे अवश्य भागे, उन्होंने अपनी प्राणरक्षा का भरसक प्रयत्न किया किन्तु जब यमराज का छोटा भाई भीषण दावानल प्रलयकाल की अग्नि की तरह अपने हज़ार हज़ार हाथों से पकड़कर जीव जन्तुओं को अपने विश्वनाशक मुख में डाल रहा था तब जान बचाने का उपाय ही क्या! यों भाग जाने पर भी, उड़ जाने पर भी जल भुन कर भुरता हो गये। वहाँ की यह दशा देख कर उसका कोमल हृदय एक दम पसीज गया। गृहिणी से प्रथम समागम की उसकी लालसा और प्रतिज्ञा हवा हो गई। उसने गाएं चरानेवाले ग्वालों से इसका कारण पूछा। उसने पूछा कि—"ऐसा घोर कर्म करनेवाला कौन है?" शायद उसे यदि आग लगा देनेवाले का नाम धाम मालूम हो जाता तो वह अवश्य उसे मजा चखाए बिना नहीं मानता। परंतु जब बाँसों के संघर्षण से आग लगी थी तब वह दंड भी देता तो किसे देता? जो जंगल जल रहा था वह घास से हरा भरा था। गोचारण के लिये परती छोड़ी हुई भूमि थी। यह सच्चा गोरक्षक, गोसेवा के सिवाय अभी तक उमर भर में इसने कुछ काम ही नहीं किया और जब गोरक्षा के लिये ही मरने को जा रहा है तब गोग्रास–गाय का चारा—जलते देख कर उसका हृदय उछल पड़ा।

तेजा ने घोड़ी से उतर कर उसे एक अधजले ठुंठ से बाँध दिया। वह धोती ऊपर चढ़ाकर, हाथ की बाँहें ऊँची समेट कर आग बुझाने के लिये तैयार भी हुआ परंतु वहाँ बंबई कलकत्ते की तरह आग बुझाने की कल नहीं, पास कोई कुआँ नहीं, बावली नहीं, तालाब नहीं। पुराण-प्रसिद्ध कथा है कि एक बार किसी पक्षी के अंडे समुद्र बहा ले गया। पक्षी को उसपर क्रोध आया। "कमजोर और गुस्सा ज्यादह" इसके अनुसार वह पखेरू समुद्र जैसे महा बलवान् शत्रु की अनंत जलराशि को उलीच उलीच कर फेंक देने को तैयार हुआ। जल भर भर कर फेंकने के लिये उसके पास कोई पंप नहीं, पखाल नहीं और मशक नहीं–तब उसने अपनी जरा सी चोंच से भर भर कर पानी फेंकना प्रारंभ किया। बस तेजा का उद्योग उसी पक्षी के समान था। वह पक्षी चोंच से समुद्र उलीच कर बदला लेना चाहता था और तेजा ने बिना जल, बिना मदद आग बुझाने का साहस किया। आग किस तरह बुझाई गई सो कोई नहीं बतलाता किन्तु "जो आकाश पर तीर मारता है

वह पेड़ की फुनगियों तक अवश्य पहुँचा देता है।" अथवा जो दृढ़प्रतिज्ञ होकर कार्य आरंभ करता है परमेश्वर उसका अवश्य सहायक होता है। बस इसी न्याय से उसने आग बुझाई।

यों आग जरूर ठंढी पड गई पर एक घटना देखते ही उसके आश्चर्य का पारावार न रहा। उसने समझ लिया कि वास्तव में मारनेवाले से जिलानेवाला बलवान् होता है। जो कुछ करता है परमेश्वर अपनी इच्छा से करता है। प्राणी केवल निमित्त मात्र हैं। उसे आश्चर्य इसलिये हुआ कि "महाभारत" के संग्राम में जैसे घमासान युद्ध के समय लाशों पर लाशें गिरने की जगह, रक्त की नदियों के बीच, टिटिहरी के अंडे हाथी का घंटा गिरजाने से उसकी पोलाई के बीच में बच गये थे वैसे ही एक काला नाग बच गया। जलती हुई आग के बीच जाकर उसने अपने बरछे की नोक के सहारे वह सर्प उछाला और तब धरती पर गिरते गिरते अपनी ढाल में रोक लिया। यों जलते हुए उसने नरशत्रु नाग के प्राण बचाकर अच्छी रक्षा की। अपने दुपट्टे पर उसे रख दिया। किन्तु फल इसका उलटा हुआ। तेजा का कृतज्ञ होकर उसे धन्यवाद देने–आजीवन उसका शुभचिन्तक रह कर उसे सहायता देने–के बदले नरशत्रु नाग उलटा उससे नाराज हुआ। नाराज होकर उसने दिखला दिया कि दुर्जनों का उपकार करके मौत मोल लेना है। उसने साबित कर दिया कि जो बुरे हैं वे अपनी बुराई से कभी नहीं चूकते। और इसी लिये बड़े लोगों ने ठीक कहा है कि—"पयः पानं भुजंगानां केवलं विष वर्द्धनम्"।

खैर! वह साँप बोलाः—"ओहो बड़ा गजब हो गया। तैने मुझे बचाया क्यों? मैं यदि जल जाता तो कष्टों से छूटता। मैं हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन मुहम्मदगोरी के दारुण संग्राम में मारा गया चाँपावत सरदार हूँ। मेरा नाम बलूसिंह (बलदेवसिंह अथवा बलवंतसिंह का संक्षेप) है। अपनी घोड़ी का मूल्य चुकाए बिना मर जाने से और मरती बार मन में इस तरह की ग्लानि रह जाने से मुझे सर्पयोनि में आना पड़ा है। मैं मर जाता तो दुःख से छूटता। अब मैं तुझे डसूँगा। मारे बिना हरगिज़ न छोड़ूँगा।"

एक विषधर भुजंग का, नरजाति के चिरशत्रु का, ऐसा इरादा देखकर, उससे ऐसा बर्ताव पाकर यदि तेजा चाहता तो उसी समय उसका सफाया कर सकता था किन्तु जिसको बनाया उसे बिगाड़ना, जिसे बचाया उसको मारना और जिसका उपकार किया है उसका घात करना हिन्दू जाति ने कभी सीखा नहीं। हज़ार ज़माना बिगड़ जाने पर भी ऐसी नीचता हिन्दू से कभी स्वप्न में भी नहीं हो सकती। हाँ! तेजा के लिये इस समय एक रास्ता और भी था। वह यदि चाहता तो उसकी खुशामद कर सकता था, उसके आगे रोकर—गिड़गिड़ा कर प्राणों की भिक्षा माँग सकता था। किन्तु "हाहा खाये न ऊबरै बैरी बस पड़ियाँ।" यह लोकोक्ति उसके दिमाग में चक्कर काट रही थी। जो हथेली पर जान लेकर केवल मरने ही के इरादे से घर से निकल पड़ा है यदि वह शत्रु की और सो भी एक ऐसे दुश्मन की जिसको वह अभी मरते मरते बचा चुका है खुशामद करे, तो सचमुच उसकी बहादुरी में बट्टा लग जाय। उसकी जननी लजा जाय। बस इसी लिये तेजा ने उस सर्प को वचन दिया। वह बोलाः—

"अच्छा तुझे उपकार के बदले में मेरा अपकार करके कृतघ्न बनना है तो भले ही बन। मैं तैयार हूँ। मैं मरने को तैयार हूँ। मुझे किंचित् भी तुझसे भय नहीं है किन्तु आज से सर्प जाति पर कोई उपकार नहीं करेगा।"

"कुछ भी हो परंतु जब मेरी नागिन इसी आग में जल कर मर चुकी है तब तैने उससे मेरा बिछोह क्यों किया? मैं तुझे जरूर डसूँगा।"

"हाँ हाँ! डस लेना! डस लेना! मैं कब कहता हूँ कि मुझे प्राण दान दे; परंतु एक ही

बात मैं तुझ से कहता हूँ। मेरी शादी हुए बारह ग्रैार बारह चैाबीस वर्ष हो गये हैं। तब से मेरी स्त्री ग्रपने मैके में पड़ी पड़ी कैावे उड़ा रही है। एक बार जीते जी उससे मिल ग्राने दे। तब मैं ज़रूर तेरे पास ग्रा जाऊँगा। उस समय जो कुछ तेरे जी में ग्रावे सो करना।"

इस पर सूर्य चंद्रमा की गवाही से, धरती माता की शहादत से सर्प ने तेजा की बात स्वीकार की। वास्तव में हिन्दू जाति की सत्यनिष्ठा का यह नमूना है, तेजा की सच्चाई की सीमा है कि शत्रु भी उसके वचन का विश्वास करे, एक कृतघ्न सर्प तक को उसके प्रतिज्ञा-पालन का भरोसा हो। इससे सिद्ध होता है कि उस समय तक हिन्दू जाति के हृदय से विश्वास का विनाश नहीं हुग्रा था।

यों तेजा काल के गाल में से बच कर वहाँ से चल ग्रवश्य दिया ग्रैार चला भी एक ग्रैार प्रतिज्ञा के भार से ग्रपने हृदय को लाद कर ग्रपनी प्राण प्यारी के प्रिय दर्शन के लिये। किन्तु वहाँ से दो मंजिल निकल कर जब तीसरी मंजिल पर पहुँचा तो बनास नदी ने उसका रास्ता रोक लिया। घोड़ी समेत तेजा को नदी पार कर देने के लिये मल्लाह ग्रवश्य तैयार थे किन्तु वह जेरबंद खोल कर ऊपर बाँध लेने के बाद, घोड़ी समेत चैामासे की चढ़ी हुई बनास के, पार हो गया। पार जाकर उसने दूसरे किनारे पर श्रीबदरीनाथ महादेव के दर्शन किए। गानेवाले कहते हैं कि यह वही महादेव हैं जो ग्राज कल गोकर्णेश्वर के नाम से प्रसिद्ध हैं। गोकर्णेश्वर महादेव का मंदिर बनास के किनारे जयपुर राज्य के राजमहल नामक कस्बे में हैं। यह स्थान छावनी देवली से पाँच कोस पर ग्रब तक विद्यमान है। यहाँ तेजा ने महादेव के दर्शन कर ब्राह्मण भोजन कराया, ग्राप भोजन किया ग्रैार घोड़ी को ख़ूब चूरमा खिलाया। ग्रैार तब दो दिन बीच में ठहर कर ग्रपनी ससुराल के गाँव पनेर पहुँचा।

ग्रब पाठकों ने ग्रवश्य समझ लिया होगा कि मुन्शी देवीप्रसाद जी की बतलाई हुई पनेर ग्रैार इस पनेर में कोसों का ग्रंतर होना चाहिए। मुन्शी देवीप्रसाद जी की तलाश के ग्रनुसार तेजा की जन्मभूमि चाहे मारवाड़ के खड़नाल गाँव में हो ग्रथवा गानेवालों के विचार के ग्रनुसार रूपनगर राज्य किशनगढ़ में हो किन्तु उसके गाँव ग्रैार ससुराल का फासला कम से कम पांच सात मंजिल होगा ग्रैार इन दोनों के बीच नदी बनास भी होनी चाहिये। यद्यपि पनेर गाँव बूँदी ग्रथवा जयपुर के इलाके में कहाँ पर है ग्रथवा उस ज़माने में था सो ग्रभी तक मालूम नहीं किन्तु जो ग्रादमी रूपनगर से चलकर राजमहल के निकट बनास नदी के पार उतरे ग्रैार राजमहल से उसकी ससुराल दो तीन मंजिल पर हो तो उसकी ससुराल ग्रवश्य बूँदी के इलाके में डुगारी के ग्रास पास होनी चाहिये। डुगारी में ग्रब भी तेजा दशमी पर बहुत बड़ा मेला होता है। दूर दूर के यात्री ग्रपनी ग्रपनी डसियाँ कटवाने के लिये वहाँ जाते हैं। जब ग्रटकल से ही काम लेना है तब यह भी कहा जा सकता है कि इसकी ससुराल केकड़ी में थी क्योंकि वहाँ भी भारी मेला होता है। परन्तु इस ग्रटकल से सच्चाई नहीं मालूम होती क्योंकि रूपनगर से केकड़ी जानेवाले को शायद प्रथम तो बनास उतरने की ग्रावश्यकता ही नहीं ग्रैार सो भी राजमहल के पास!

ग्रध्याय ५

ससुराल में तिरस्कार।

गत ग्रध्याय के ग्रन्त में तेजा पनेर पहुँच तो गया परन्तु जिसने पच्चीस वर्ष की उमर में कभी ससुराल नहीं देखी, सास ससुर नहीं देखे, ग्रपनी सात फेरे की ग्रैारत नहीं देखी ग्रथवा यों कहो कि जिसको किसी ने न देखा वह योंही—बिना किसी तरह के इशारे के—ससुराल में जाकर कहै कि "मैं तुम्हारा दामाद हूँ ग्रैार" यदि वहाँ पर पहचाना न जाय—ग्रैार ऐसा संभव भी है क्योंकि जब उसका ब्याह हुग्रा था तब उस की उमर छः महीने की थी—तो ज़रूर ही

वहाँ से जूते मार कर निकाल दिया जाय। क्योंकि हिन्दुओं में दूसरे किसी का दामाद बन जाना गाली है। और यह उस ज़माने की बातें हैं जब राजपूत जाति किसी को अपना दामाद बनाने में अपनी हेठी—अपने लिए लज्जा समझ कर कोमल कन्याओं का जन्म लेते ही कलेजा मसोस डालती थी। "न रहेगा बाँस और न बजेगी बाँसुरी" की लोकोक्ति के अनुसार जन्मते ही बालिका के रक्त से अपने हाथ रँगने की नीचता दिखाने में नहीं हिचकती थी। सब नहीं, अनेक परन्तु अनेकों की नीचता से कलंक सब पर था और उस काले टीके को मिटाने का यश ब्रिटिश गवर्नमेंट को है।

अस्तु! तेजा ने गाँव के बाहर जाकर किसी बग़ीचे में विश्राम लिया। यह बाग़ उसके ससुरालवालों का था। किन्तु तेजा नहीं जानता था कि किसका है। जब वह जाकर वहाँ पहुँचा तब बग़ीचे का ताला बन्द था। इसके कहने से मालिन ने ताला नहीं खोला। गीतों में कहा जाता है कि उसके प्रताप से ताला अपने आप खुल पड़ा और शायद ससुराल में आकर अपनी मस्ती दिखाने के लिए ही उसने बग़ीचे में घोड़ी योंही छोड़ दी। घोड़ी ने बग़ीचे के पेड़ तहस नहस कर डाले तब मालिन को ग़ुस्सा आया और उसने ख़ूब कोड़े मार मार कर घोड़ी की खाल उड़ा डाली। घोड़ी की ऐसी दुर्दशा देखकर तेजा का भी क्रोध भड़क उठा। उसने मालिन को टोंका। मालिन रोती पीटती अपनी मालिकिन के पास गई और इस तरह तेजा के वहाँ आने का पैग़ाम उसकी ससुराल में पहुँचा। यह बग़ीचा उसकी स्त्री की निगरानी में था। उसका नाम बोडल था। उमर उसकी वही बारह और बारह चौबीस वर्ष की होगी। इस तरह बाग़ को नष्ट भ्रष्ट कर डालना और तिस पर मालिन को मारना—ये दो अपराध तेजा के थे। मालिकिन को सुनकर पहले बहुत ही क्रोध आया। एक चौबीस वर्ष की अबला बालिका में बल ही क्या जो प्रचंड तेजस्वी तेजा का मान मर्दन कर सके। यदि दोनों के भाग्य में दाम्पत्य सुख बदा होता तो शायद किसी दिन मानिनी बनकर तेजा का मान भी मर्दन कर सकती थी किन्तु इस समय युवती बोडल ने लूट मार के केन्द्र पनेर के निवासी लुटेरों के सरदार बदना जाट के बल पर यहाँ तक कह डाला कि—"मैं और तो और परन्तु पानी तक में आग लगा सकती हूँ। आकाश के तारे उतार सकती हूँ। तू घबराय नहीं। जिसने मेरा बाग़ बिगाड़ कर तुझे मारा है उसे अवश्य दंड दिया जायगा।" घर में बेटी लाडली थी और ससुरालवालों के न सँभालने से बेटी का लाड और भी बढ़ गया था। बस इसने अपनी भाभी को हुक्म दिया कि—"पानी भर लाने के मिस से जाकर देखो तो वह कौन आदमी है?" ननद के कहने से भौजाई गगरी माथे पर रखकर बग़ीचे की बावली में पानी भरने को गई। यह बावली बदना की बनवाई हुई थी।

जिस समय भौजाई ने वहाँ पहुँच कर माथे की गगरी सीढ़ियों पर धरी तेजा जपस्थली में हाथ डाले हुए "राम राम" जप रहा था। तेजा के लिए इस तरह भजन करने का यदि यह पहला ही अवसर हो तो पाठक कह सकते हैं कि उसने ससुरालवालों को दिखलाने के लिए ढोंग फैलाया था। किन्तु नहीं—यह उसका नित्य नियम था और सचमुच ही वह बड़ा आस्तिक था। वह खाते पीते उठते बैठते, सोते जागते, चलते फिरते कोई काम भगवान् का नाम लिए बिना नहीं करता था। इस गायन में पद पद पर इसका संकेत है। और फिर वह ज़माना भी ऐसा नहीं था जिसमें भगवान का भजन भी झूठा ढकोसला ख़याल किया जाय।

बादल की भौजाई और तेजा के साले की बहू ने घूँघट की ओट से उसे शिर से पैर तक अच्छी तरह निरखकर कुछ कुछ पहचाना, कुछ अटकल लगाई और तबकुछ मुसकुरा कर, होठों से अपनी मंद मंद हँसी को दबाते हुए परदेशी अनजान से बात करने में अथवा यदि कुछ पहचान भी लिया तो अपने ननदोई से बात चीत करने में लजाते हुए पूछा और पूछने

में ही थोड़ा सा विनोद झलका कर अपनपे का परिचय दे डाला। वह बोलीः—

"ए परदेशी पखेरू! किस नगरी का निवासी है और किसके यहाँ का प्यारा पाहुना है?"

"मैं रूपनगर का रहनेवाला हूँ। और इसी नगरी में बदना का प्यारा पाहुना। बदना मेरा ससुर और मैं उसका दामाद!" तैजा से ऐसा उत्तर पाकर उसकी कली कली खिल उठी। वह वैसे ही मृदु हास्य से कहने लगी—"कुँवर साहब! हैं आप पधारे हैं! भले पधारे! आज किधर भूल पड़े। मेरी ननद तो आपकी राह देखती देखती थक गई।" उसने इस तरह तैजा को अपना परिचय देकर उसका परिचय ले लिया किन्तु हिन्दुओं में योंही स्त्री जाति को स्वतंत्रता नहीं फिर घर की बहू बेटी और जवान क्योंकर एक जवान मेहमान से कह सके कि "तुम घर चलो।" बस यों वह भी जाते जाते ननदोई को उसी घूँघट की ओट से निरखती हुई, सिंहावलोकन की तरह फिर फिर कर इसकी ओर निहारती हुई चल दी और घर पहुँचकर तब ननद से बोलीः—

"लाओ हमारी मिठाई! बोलो आज क्या इनाम दिलवाओगी? मैं अभी ऐसी ख़बर सुनाना चाहती हूँ जिससे तुम्हारी कली कली खिल उठें।"

"हैं हैं! क्या ख़बर? कहो तो सही कौन सी ख़बर? ऐसी कौन ख़बर है जिसके लिए तुम मिठाई माँगती हो। मिठाई दो तो तुम दो। भगवान ने तुम्हें सुख दिया है। तुमने इस बार गनगौर पर ही मिठाई नहीं दी! मुझ अभागी से मिठाई क्या और इनाम क्या? जिसे ज़िन्दगी भर तुम्हारे टुकड़ों पर गुज़ारा करना है उससे मिठाई? भाभी योंही काँटों में न घसीटो!"

"नहीं! सच कहती हूँ। हँसी नहीं करती। आज ज़रूर मिठाई लूँगी (हँस कर) प्यारे पाहुने का—तुम्हारे ही प्यारे का पैगाम लेकर आई हूँ। जिसके लिए तुम बरसों से आस लगाये बैठी थीं वह आ पहुँचा और तुम्हें ही लेने के लिए आये हैं। मौज······"इतना कहते कहते ननद ने भौजाई का मुँह पकड़ लिया। इसके बाद क्या बात चीत हुई सो कहने का अधिकार इस लेखक को नहीं। कहने की आवश्यकता भी नहीं। मेरी कल्पना ने जहाँ तक इसे पहुँचा दिया उतना ही बस है।

ख़ैर पनिहारियों के कहने से तैजा को मालूम हुआ कि बदना जाट की हवेली के दरवाज़े पर पारस पीपल का पेड़ है, उसका बेटा कानों में मोती पहने हुए है, और वह ख़ूब धनवान है परन्तु उसने वहाँ जाने पर शायद इसका बिलकुल उलटा पाया। जिस समय तैजा ने अपनी सास के पास जाकर जुहार किया तो वह पीढ़े पर बैठी चरखा कात रही थी और जब ससुर से मिला तब वह भैंस चरा रहा था। उसके घर की औरतें आँगन बुहार रही थीं और लड़का चौसर खेल रहा था। दामाद की ख़ातिर करने के लिए पलँग बिछाया गया और कस्तूरी डाला हुआ तम्बाकू उसे पीने को दिया गया। तैजा ने ससुरालवालों का ऐसा आतिथ्य स्वीकार तो किया परन्तु वहाँ जाते ही फिर भगवान की सेवा करने के लिए जल की गगरी माँगी। इधर उसका इस प्रकार से नित्य नियम आरंभ हुआ और उधर खाना बनने लगा। घर से घी देकर बदले में तेल, गेहूँ का आटा देकर उसकी जगह कुलत्थ, और दामाद को परोसने के लिए बाकले तैयार किये गये। इस पर बेटी बहुत कुढ़ी, बहुत रोई और मुँहफट बनकर उसने माता से यहाँ तक कह दिया किः—

"घर में सब कुछ मौजूद होने पर भी मेहमान का इतना तिरस्कार क्यों करती है? क्या तुझे आना अच्छा नहीं लगा?"

"हाँ हाँ! जमाई और जम, दोनों की एक ही राशि है।"

अस्तु वह योंही रो झींक कर रह गई और तैजा के लिए परसा वही गया जो तैयार किया गया था। तैजा ने उस थाल में से दो तीन ग्रास अवश्य लिए परन्तु ससुराल में जाने पर ऐसा अपमान! जहाँ देवता के समान पूजा होने की आशा वहाँ ऐसा

निरादर ! विवाह के बाद चौबीस वर्ष में पहली बार जाने पर ऐसी बेइज़्ज़ती ! तेजा इस अपमान को सहन न कर सका। वह तुरन्त ही उठ खड़ा हुआ। खड़े होकर उसने थाली को एक लात मारी और तब वहाँ से यह गया वह गया, चल दिया। जाती बार उसने सास से जुहार की या न की सो मालूम नहीं किन्तु उसने सास की गाली अवश्य खाई। उसे जाता देखकर वह बोलीः—

"अच्छा जाता है तो जा निपूते ! तुझ पर गाज पड़े। जा ! तुझे काला खा जावे ! जा !"

तेजा गाली खा कर नहीं गया। गाली के बदले ऐसी ही उलटी गाली देकर वहाँ से वह चल दिया और तब उसने उसी बगीचे में अपना डेरा डाल दिया। वहां ठहर कर तेजा ने बस्ती भर के ब्राह्मणों को भोजन कराया। केवल ब्राह्मण भोजन ही क्यों, बस्ती के सब आदमी, लुगाई बालक-बूढ़ों को न्योता दे दिया; एक न दिया अपनी ससुराल वालों को और ब्राह्मण रसोई बनानेवालों के हाथ से चूरमा बनवा-कर सब को जिमाया। जब सब लोग राज़ी खुशी भोजन कर चुके तब तेजा की पारी आई। भग-वान के ध्यान पूजन से निवृत्त हो कर यह भी भोजन करने बैठा सही परन्तु ससुराल की तरह वहां भी परसी थाली उसके सामने से खींच ली गई। अन्न अच्छा बुरा चाहे जैसा हो किन्तु तेजा ने वहां उसके लात मारी थी। हिन्दू अन्न को देवता मानते हैं तब भी उसने उसका अपमान किया था। यहां तेजा के भोजन आरंभ करके दो तीन ग्रास लेते लेते ही माना गूजरी ने इसके आगे हाय तोबा मचाई। शायद यह वही माना गूजरी थी जो एक बार जंगल में जलाशय के किनारे उससे मिलकर उसके विवाह होने की याद दिला चुकी थी। माना ने कहाः—

"हाय हाय ! अब मैं क्या करूँगी ? घर में इस समय कोई आदमी नहीं। निपूते इस गांव के कोई मेरी पुकार सुनते नहीं और लुटेरे जंगल में से चरती हुई मेरी सब गाएं लिये जा रहे हैं।"

"ले गये तो ढोली (ढोल बजानेवाले) को बुलाकर गाँव की "बार" चढा। सब के साथ मैं भी चलने को तैयार हूँ।"

"बार क्या चढ़ाऊं ? गांव के सारे मर गये। जब तू ही डरके मारे मरने के डर से आनाकानी करता है तब हद हो गई। हाय अब मैं क्या करूँगी। हाय मेरी सब गाएँ गईं। गवाड़ा-खिड़क खाली हो गया। अरे ! ये वेही चांदा के मीने हैं जिनसे तैने चुनौती का बदला लेने की सौगंद खाई थी। ऐसा नामर्द था तो घर से आया ही क्यों था ? मेरी तरह घाघरा पहन लेता।"

"हैं वे ही मीने ? अच्छा तब जरूर जाऊँगा। अवश्य मारूँगा और मरूँगा परन्तु तेरी गाएँ छुड़ा कर लाऊँगा। जो न छुड़ा लाऊँ तो मैं तेजा नहीं। तेजा और तेजा की सात पीढ़ी को धिःकार।" यों कहते हुए तेजा ने भूखे पेट थाली हटा दी। हाथ धोकर कुल्ली करने के अनंतर तेजा ने कपड़े पहने, हथियार सजाये और तब घोड़ी कसकर उसपर सवार हो गया। सवार क्या हुआ चढ़कर अकेला ही गाँववालों की मदद लिये बिना चल दिया। घर से जब चलने लगा था तब माता ने उसे रोका था किन्तु "बेटी देकर बेटा लेनेवाले" सास ससुर ने इससे कुछ न कहा। मालूम होता है कि ससुराल-वालों से इसकी दुश्मनी थी।

अध्याय ६

डेढ़ सौ से अकेला।

तेजा अथवा उसकी माता से बदना और उसकी जोरू की यदि शत्रुता न होती तो माता इसे ससुराल जाने से क्यों रोकती और बदना की औरत ही ऐसे प्यारे पाहुने का इतना अपमान क्यों करती ? तेजा की माता के लिये तो यह भी खयाल किया जा सकता है कि बेटे का अमंगल विचार कर उसने भेजने में नाहीं की क्योंकि इधर तेजा मुठमर्द और उधर का प्रदेश भयंकर किन्तु बदना की जोरू के बर्ताव का कोई कारण ध्यान में नहीं आता। संभव है कि आज कल हिन्दू समधियों के आपस में जैसे

जरा जरा सी बात के लिये खिंचाखिंची हो जाया करती है श्रैार इस समय समधियों अथवा समधिनों के परस्पर अड़ाव से जैसे आजीवन स्त्री पुरुष में जूती पैजार हुआ करती है वैसे ही कुछ हो पड़ा हो!

ख़ैर! माना गूजरी के उभारने से तेजा सजधज के साथ डेढ़ सैा मीनों से लड़ मरने के लिये अकेला ही चढ़ दैाड़ा। उसकी शरणागतवत्सलता ने, उसके प्रतिज्ञा पालनने अथवा उसके भावी ने उसे पीठ तक फेर कर न देखने दिया कि कोई उसकी मदद के लिये आता तो नहीं है। अस्तु, वह घोड़ी दैाड़ाता वहाँ से चला श्रैार जब तक उसे गायों को लिये हुए मीने जाते दिखाई न दिये उसने कहीं विश्राम तक न लिया। अंत में उसे दूर से गोरज उड़ती दिखलाई दी। फिर गाएं देख पड़ीं श्रैार साथ ही डेढ़ सैा हथियार बंद मीनों का झुंड। एक श्रोर डेढ़ सो श्रैार दूसरी श्रोर अकेला वह। यदि तेजा कच्चे दिल का होता, यदि उसे प्राणों का लोभ होता श्रैार यदि वह माना से की हुई प्रतिज्ञा को तिनके की तरह तोड़ डालना चाहता तो उसी समय वापिस जा सकता था। परन्तु नहीं! रणभूमि से विमुख होकर भाग जाना श्रैार मर जाना उसके लिये समान था। वह ऐसे नाक कटा कर जीने से सिर कटा कर मर जाने को सीधे स्वर्ग चला जाना समझता था। बस इसलिये उसने अपने प्यारे प्राणों को समर यज्ञ में होम देने के दृढ़ संकल्प के साथ ही लुटेरों को ललकाराः—

"ठहरो! ठहरो! कहां लिये जाते हो इन गायों को? जो मर्दूमी है तो लड़ो! अपने प्रण का पालन करो श्रैार जो हिम्मत नहीं हो तो गायों को छोड़ कर भाग जाश्रो। देखना तुम डेढ़ सो श्रैार मैं अकेला हूँ परन्तु इस अकेले के हाथों का मजा चख जाश्रो।"

"जा जा! अपना मुंह लेकर लैाट जा। नाहक श्रैारों के काम के लिये दिये में पतंग क्यों बनता है। उस रांड़ गूजरी ने यों ही जीजा जीजा श्रैार जमाई जमाई कहकर तेरी जान लेने के लिये जोश दिला दिया है। याद रखना! डेढ़ सैा आदमी हैं। यदि तेरी श्रोर थूंक दें तो भी तू बह जायगा। तेरी क्या मजाल जो हमपर हाथ उठा सके।"

"हैं! मैं लैाट जाऊँ? चला जाऊँ तो मेरी जननी लाज जाय। तुम यदि डेढ़ सैा बकरियाँ हो तो मैं शेर श्रैार डेढ़ सैा चिड़ियें मैं अकेला बाज़ हूँ! घबराश्रो नहीं! अभी एक एक की गिन गिन कर ख़बर लिये लेता हूं। अगर तुम्हें गिन २ कर मज़ा न चखाऊँ तो मैंने माता लछमा का दूध पीकर झख मारी।"

हैं! तू लछमा का बेटा है? तब तो तू हमारा भानजा हुआ! वह हमारे राखी बांधती थी।"

"राखी बांधती थी तो अच्छी बात है! मामाजी गायों को छोड़ जाश्रो श्रैार मेरी मामियों को लंबी कांचलियाँ पहना कर विधवा मत बनाश्रो।"

"अरे छोकरे! फज़ूल बातें बनाता है! भाग जा अपनी जान लेकर। हम डेढ़ सैा बहादुर श्रैार तू अकेला छोकरा।"

"अच्छा लीजिये डेढ़ सैा बहादुर मामा साहब! संभालिये।" कहकर तेजा ने तीर बरसाना आरंभ कर दिया। सचमुच ही उधर डेढ़ सैा श्रैार इधर वह अकेला था। एक दम से एक ही बार में उस पर यदि डेढ़ सौ तीर पड़ें तो उसका शरीर ही टुकड़े २ होकर लाश तक का पता लगना मुशकिल हो जाय। परंतु क्या अकेले तेजा पर डेढ़ सौ के डेढ़ सौ ही तीर मार सकते थे। गायों की संख्या विदित नहीं परंतु जब उन्हें घेर कर ले जानेवाले डेढ़ सौ थे तब यदि दाे हज़ार गायें मान ली जायँ तो आश्चर्य्य नहीं। बस इतनी गायों को रोकनेवाले भी तो चाहिएँ। यदि न रोकी जायँ तो योंही जंगल में तितर बितर हो जायँ। गाएं भी तो ऐसी नहीं थीं जो उन्हें पहचान कर बोली पर रुक सकें। फिर डेढ़ सैा होने से उन लोगों को घमंड भी था कि अकेला छोकरा हम डेढ़ सौ का क्या कर सकता है? बस तेजा के तीरों की भरमार ने सचमुच ही उनको व्याकुल कर दिया। उसने जैसा

कहा था वैसा ही कर दिखाया। उसके एक २ तीर से एक एक आदमी मर मर कर, घायल हो हो कर, जब एक, दो, तीन, चार गिरने लगे तब मीनों के पैर उखड़ गए। पैर उखड़ जाने से पाठक शायद यह समझ बैठें कि क्या मीनों ने तेजा पर वार किये बिना ही उसे गायें सौंप दी होंगी। नहीं! ऐसा कदापि नहीं हो सकता। हो सकता है कि तेजा को अकेला समझ कर उन्होंने इसकी परवा न करने से धोखा खाया। परंतु वे भी खाली हाथों नहीं भागे। जिस समय गायें छोड़ कर मीने भागे उनके तीरों की मार से तेजा और उसकी घोड़ी भी कम घायल नहीं हुई थी। दोनों का शरीर सचमुच छिन्न भिन्न हो गया था। उनका सारा बदन लहूलुहान होकर कपड़े ख़ून से रंग गये थे। दोनों के शरीर में से रक्त टपक टपक कर धरती भिगोता जाता था, गायें आगे आगे घर की ओर मुंह किये हुए अपने २ बछड़े बछिओं से मिलने के लिये उतावली हो कर चली जा रही थीं और तेजा भी घायल वीरों की तरह मतवाले मातंग की नाईं विजय के जोश में झूमता हुआ पनेर की ओर चला जा रहा था।

उस समय उसे अवश्य ख़याल हुआ होगा कि "माना को उसकी पूरी की पूरी गायें पहुंचाने से उसको धन्यवाद मिलैगा।" किन्तु धन्यवाद के बदले तेजा को उलाहना मिला। कृतघ्न माना ने तेजा की तारीफ़ करने के बदले, उसका उपकार मानने की जगह और मीठे वचनों से उसका स्वागत करने के स्थान में सचमुच ही अपनी नीचता दिखाई। उसने यह साबित कर दिया कि ऐसी ही नीचातिनीच नारियों की बदौलत रमणी-समाज कलंकित हुआ है। वह बोलीः—

"अरे सब ले आया तो क्या हुआ? हाय मेरा एकला सांड़! अरे वही सब की जान था। हमारे गांव में दस बीस कोस तक ऐसा कोई सांड़ नहीं था। उसी की बदौलत मेरी गायों में अच्छे २ बैल पैदा होते थे और यों मैं हज़ारों रुपया कमाती थी। हाय अब मैं क्या करूंगी? ले जा, तेरी गायें मुझे नहीं चाहिएं। इतनी गायें! भले ही उनको वापस दे दे। बस मेरा सांड़ ला दे और नहीं तो पहन ले लँहगा! तैने कुछ भी न किया! जब मेरा सांड़ ही नहीं आया तो औरों का आना किस काम का?"

"अरे माना गूजरी। मुझे मत मरवा। मैं यों ही मारा जाऊँगा। उधर वे डेढ़ सौ और इधर मैं अकेला। मेरी चिंदिया बिखर जायगी और मुझे भय है कि मैं उस नाग-देवता से अपना वादा पूरा करने न पाऊँगा।"

"अच्छा तो तू डेढ़ सो देख कर घबरा गया? गूलरफल के डेढ़ सौ मच्छरों से? बड़ा बहादुर बनता था ना? लंहगा पहन ले!"

"हैं! मैं लंहगा पहनूं? लंहगा पहनें पनेर के मर्द! मैं मारूंगा और मरूंगा।" कह कर तेजा ने फिर समरभूमि की ओर घोड़ी की बाग़ मोड़ दी। पहली बार जब तेजा गया था तब उसे प्रतिज्ञा-पालन के लिए जीता लौट कर नाग-देवता के दर्शन पाने की आशा थी। मरना तब भी था और अब भी है परंतु तब वचन का निर्वाह करके मरना था और अब प्रतिज्ञा की धरोहर छाती पर लाद कर मरने चला। तब शत्रु के बाणों की मार से उसका शरीर छिन्न २ हो गया था और अब जीवित लौटने की आशा त्याग कर चला और ठान कर चला कि अब समराग्नि में अपने शरीर को, प्राण को, प्रतिज्ञा को और सर्वस्व को होम कर देना है। बस यही ठान कर वह रणोन्मत्त हो कर चला और मारा-मार घोड़ी को दौड़ा कर तेजा ने फिर उन मीनों को जा पकड़ा। दूर से ही वह ललकार कर बोलाः—

"मामा जी, बैल लेकर कहाँ जाते हो? इसे तो दे जाओ। इतनी जानें खो कर भी यदि लड़ने से पेट न भरा हो तो एक बार फिर देख लो भानजे के हाथ!"

बस, इसके अनंतर ख़ूब ही मारा मारी हुई। इधर मीनों के तीरों की मार से तेजा के घाव पर घाव लगने लगे और उधर तेजा के तीर

फिर पहले की तरह एक एक बार से एक एक आदमी को गिरा गिरा कर धराशायी करने लगे। वास्तव में घमासान युद्ध मच गया। मरनेवालों की लाशों से, घायलों के आर्तनाद से और तेजा के रक्तप्रवाह से गहरा झगड़ा मच गया। मांसभोजी रक्तलोलुप पशु पक्षियों की ख़ूब दावतें हुईं। अंत में मीने हार कर भाग गए। एकला सांड़ अथवा गानेवालों के शब्दों में "काने बछड़े" को लेकर तेजा विजय की हँसी हँसता वापस आ गया।

अध्याय ७

प्रतिज्ञापालन में आत्मबलि।

जिस समय माना गूजरी का "काना बछड़ा" लेकर, तेजा घायल शरीर से, रणोन्मत्त होकर झूमता झामता, गिरता पड़ता और फिर सँभलता शत्रुओं का दमन करता हुआ सचमुच ही गूलर-फल के जीवों की तरह रणचंडी के वीर मीनों की बलि चढ़ाता, पनेर के पास पहुंचा तो पहली मुठ-भेड़ उसकी गूजरी माना से ही हुई। माना ने तेजा का अपने ही स्वार्थ के लिये विनाश करवाने पर भी अपना "एकल सांड़" पाकर उसे धन्यवाद दिया या नहीं सो गानेवाले नहीं कहते; वे यह भी नहीं बतलाते कि "वचने का दरिद्रता" के सिद्धान्त से उसने तेजा से दो चार मीठे शब्दों से उसका मन का थोड़ा बहुत समाधान भी किया या नहीं। जब वह तेजा को मरवाने के लिये ही पैदा हुई थी, जब रण देवी को तेजा जैसे वीर की बलि चढ़ाना ही उसका इष्ट था और जब गानेवाले उसे तेजा का विनाश करनेवाली देवी बतलाते हैं तब वह तेजा को आशीर्वाद ही क्यों देने लगी। वह इस तरह के एक शब्द का उच्चारण किये बिना ही अपना "काना बछड़ा" लेकर वापस चल दी। वह इस तरह चल दी और तेजा ने भी अब उसे वहाँ ठहरने न दिया। आजकल के लोगों की तरह तेजा का उस समय भी ख़याल था कि मैली कुचैली औरत की परछांही पड़ने से उसके घाव बिगड़ जायंगे। जब वह तेजा का सचमुच ही काम तमाम कर चुकी थी तब उसे गरज़ ही क्या पड़ी थी जो अब वहाँ ठहर कर वह तेजा की मरहम पट्टी करने की झूंठ मूंठ मनुहार करती।

अस्तु! उसने वहाँ से चल कर तेजा के "अब तब" हो जाने की ख़बर उसकी ससुरालवालों को दी। जिनको तेजा पर न मालूम क्यों घृणा थी, जो उसके साथ साफ़ दुश्मनी दिखला चुके थे और जिन्होंने तेजा की जान की तिनके की तरह बिलकुल परवाह न की, वे आते तो आते ही क्यों? वहाँ से आई केवल तेजाकी गृहिणी और उसे अपने पति के पास जाने से रोकने के लिये उसकी कुत्या माता। तेजा की स्त्री पति की ऐसी दशा देख कर रोने लगी। उसने रो रो कर आकाश गुंजा डालने में बिलकुल कोताही नहीं की। उसने पति के चरणों में लोट कर उसे बहुतेरा समझाया—बहुत कुछ प्रार्थना की और यहाँ तक कहा कि गाँव में चलो, मैं तुम्हारी सेवा करूँगी और तुम्हें अवश्य आराम होगा।" परंतु तेजा ने उसकी बात पर कान नहीं दिया। उसने साफ़ कह दिया:—

"मैं अपना कर्त्तव्य पालन कर चुका। अब मुझे जी कर ही क्या करना है? मैं मर चुका और जब तक मैं नाग देवता के पास पहुंच कर अपनी प्रतिज्ञा पालन न कर लूं तब तक एक एक मिनट मेरे लिये भारी है। मैं यदि उसके निकट पहुंचने से पहले ही मर जाऊँ तो मेरी बात में बट्टा लग जाय। इस लिये मैं उधर जाता हूं और तू अपने बाप के यहाँ जाकर मौज कर।"

"सो मुझ से नहीं हो सकेगा। जहाँ तुम वहाँ मैं। तुम जिओगे तो मैं जिऊँगी और तुम······" इतना कहते कहते बोदल का कंठ भर आया। वह न कह सकी कि "तुम मरोगे तो मैं भी मर जाऊँगी।" हिन्दुओं में भले घर की बहू बेटियाँ सौभाग्यवती रमणियाँ अपनी ज़बान से ऐसा कभी नहीं कह सकती हैं। यदि भूल से भी उनके मुँह से ऐसी बात निकल जाय तो उन्हें मरणान्त कष्ट होता है। अच्छा, उसका गला भर आने से उसने आगे नहीं कहा और नहीं

कहने दिया उसकी राक्षसी माता ने। उसने फ़ौरन ही बेटी का गला पकड़ लिया। वह बोलीः—

"इस निपूते के साथ तुझे मैं कभी मरने न दूँगी। यह कल मरता आज ही क्यों न मर जाय। अच्छी बात है मर जाय तो मैं तुझे दूसरा अच्छा ख़सम करा दूँगी। मेरी गोरी गोरी बेटी के लिए एक नहीं—अनेक तैयार हैं। इस मुए से हज़ार दर्जे अच्छे। जिनके यहाँ जाकर मेरी बेटी मौज उड़ावे।"

"अपनी दूसरी बेटी को ख़सम कराइयो अथवा तू ही बुढ़ापा भड़काने के लिए दूसरा ख़सम कर लीजियो। ख़सम का नाम लेते तेरी जीभ नहीं जल जाती? जो बेटी के लिए ऐसी बुराई सोचती है उसपर भगवान् करे बिजली पड़े। यह माता नहीं पूतना माता है। अपने बेटे बेटी को दूध के बदले ज़हर पिला देनेवाली माता है।"

"अरे मान जा बेटी। मरे के साथ मत मर। जब जाटों में एक मरने पर दूसरा और दूसरा मर जाने पर तीसरा कर लेने की चाल है और जब जाटनी पति से कष्ट पाकर अपने सात फेरे के ख़ाविन्द को छोड़ सकती है तब तू नाहक ही इस मुए के साथ क्यों मरती है। इसका हाथ पकड़ कर तूने सुख ही कौन सा पाया है जो तू मरने चली है।"

"अम्मा, दुःख सुख अपने नसीब का है। जो जैसा करता है वैसा ही पाता है। मैंने जैसा किया वैसा पा लिया। जब एक से ही सुख नहीं मिला तो दूसरे से मिलने की क्या आशा है? फिर सुख भी मिले तो किस काम का? फूँक दे ऐसे सुख को! आग लगा दे ऐसे नये ख़ाविन्द को! मुझे ऐसा नहीं चाहिये।"

'अरे मान जा बेटी। अपनी जननी का कहा मान जा! मरे के साथ कोई भी नहीं मरता है। जिनमें दूसरा ख़ाविन्द करने की चाल नहीं है वे भी नहीं मरती हैं।'

"यह अपना अपना मन है। अपनी अपनी ताक़त है। मैं मरूँगी और अपने बहादुर स्वामी के चरणों में लोट कर जल मरूँगी।"

"अरे बावली! जो रोटियाँ सेंकने में उंगली जल जाने से रो रो कर घर भर डालती है उससे दहकती हुई चिता में—ज्वाला छोड़ छोड़ कर ज़मीन आसमान एक कर डालनेवाली आग—में कैसे जला जायगा। मान जा। कहा मान। बेटी ज़िद्द मत कर। नाहक हठ करके अपनी फ़ज़ीहत न करा।"

"बस जा! जा! अपना मुँह लेकर चल दे। ऐसी झूठी बातें करके मेरा सत मत डिगा। मैं मरूँगी और ज़रूर ही जल मरूँगी।"

यों कोरा उत्तर पाकर बोडल की माता वहाँ से चल दी किन्तु गई तेजा को कोसती और बेटी को गालियाँ सुनाती हुई। सास के चले जाने के बाद तेजा ने भी अपनी स्त्री को बहुत कुछ समझाया बुझाया—बहुतेरा उसको बाप के यहाँ लौटा देने का हठ किया किन्तु प्राणनाथ के चरण पकड़ कर उनमें अपना शिर रख देने के सिवा, आँसुओं के धारा-प्रवाह से पति-चरणों का सिंचन कर प्राणनाथ की अंतर्दाह को शमन करने और अपने कलेजे की दहकती हुई ज्वाला को शान्त करने के अतिरिक्त उसने एक शब्द भी मुँह से नहीं निकाला। बस इससे तेजा ने समझ लिया कि विवाह के बाद चौबीस वर्ष के अवसर में एक दिन के लिए भी दाम्पत्य सुख प्राप्त न होने पर भी बोडल का व्रत अटल है। अब हज़ार सिर पटकने पर यह माननेवाली नहीं। जब पति के साथ जाने की इसने दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली है तब सचमुच आग्रह करके इसका सत बिगाड़ना अच्छा नहीं। बस मेरी दृढ़ प्रतिज्ञा में इसकी दृढ़ प्रतिज्ञा मिल गई। इस तरह पक्का मनसूबा बाँध कर दोनों वहाँ से चल दिये। पहले तेजा अकेला था किन्तु अब यदि दोनों के अलग प्राण और अलग तन माने जायँ तो एक और एक ग्यारह हो गये। किन्तु नहीं, हिन्दुओं के सिद्धान्त के अनुसार "एक प्राण दो तन"; और इस बात को दोनों ने थोड़ी देर के बाद सिद्ध भी कर दिखाया।

वे दोनों मार्ग में किस तरह गये सो कोई बतलानेवाला नहीं है किन्तु बन बन भटक कर दोनों

ने उस साँप की बाँबी का पता लगाया। दोनों की संयुक्त प्रार्थना से जब नागदेव बाहर आये तब हाथ जोड़ कर, धरती पर माथा टेक कर और आँचल पसार कर रोती हुई बोडल बोलीः—

"राजाओं के राजा, हे बासक (वासुकि) राजा, मुझ ग़रीब पर दया करके मेरे ख़ाविन्द को छोड़ दो। चौबीस वर्ष में एक दिन के लिए, एक पल के लिए भी मैंने सुख नहीं भोगा। एक के बदले दो दो हत्या क्यों लेते हो?"

"नहीं! इसमें मेरा दोष नहीं है। तेरा ख़ाविन्द ख़ुद मुझसे प्रण कर गया है। यदि वह अब भी कह दे कि मैंने अपनी प्रतिज्ञा तोड़ी तो मैं छोड़ सकता हूँ। वह यहाँ अपना प्रण पूरा करने के लिए स्वयं आया है। मैं उसे बुलाने नहीं गया हूँ।" नाग देवता से ऐसा उत्तर पाते ही तेजा इस तरह उछल पड़ा जिस तरह पका फोड़ा छूने से बीमार उछल पड़ता है। वह अवश्य "अब तब" हो रहा था किन्तु अपने जोश को न सँभाल सका। उसने घावों की पीड़ा से अत्यन्त व्याकुल होने पर भी नशे में आकर ज़ोर के साथ कहाः—

"नहीं! हरगिज़ नहीं! मैं अवश्य अपने वचनों का बाँधा हाज़िर हूँ। मैं अपने प्रण को लातों से कुचलनेवाला नहीं हूँ। मुझसे यह कभी नहीं हो सकता कि मैं वचन चूक जाऊँ। दुनिया में वचन चूक जाने के बराबर पाप नहीं। महाराज मुझे "वचन-चूक बाँदी का जाया" नहीं कहलाना है। आप ख़ुशी से जहाँ जी में आवे डसें। मैं तैयार हूँ।"

"हाँ हाँ! तू तैयार है तो मैं भी तैयार हूँ। तू अपना प्रण निर्वाह करना चाहता है तो मुझे भी उज़्र नहीं है परन्तु (तेजा को नख से शिख तक निहार कर) तुझे डसूँ भी तो कहाँ पर डसूँ। सिर से पैर तक कोई जगह भी तो ख़ाली मिले! सारा बदन तीरों की मार से छिन्न भिन्न हो रहा है। ख़ून में तर है। मांस निकल पड़ा है। कहीं तिल धरने की भी तो जगह नहीं।"

"अच्छा इनके बदन में जगह नहीं है तो बाबा बासक (वासुकि) मुझे डस लो। मेरा सारा शरीर ख़ाली है और (पति की ओर इशारा करके) जैसे यह वैसी मैं। जिस दिन हमारा हथलेवा हुआ, जिस दिन से हमने भाँवरी फिरी उस दिन से एक प्राण दो तन हुए। और एक हो चाहे अलग अलग हो तुम्हें एक की हत्या करने से ग़रज़। बस इनको छोड़कर मुझे काटो। इनके सामने मर जाने ही में मेरा भला है। यह जीते रह कर सुख पावें तो मैं सुख से मरूँ।"

"अजी, आप इन दोनों ही को क्यों डसते हो? मैं (घोड़ी बोली) तैयार हूँ। मुझे डसो और मेरे मालिक मालिकिन को सुख पाने के लिए छोड़ दो। मुझ जैसी इन्हें बहुत मिल जायँगी।"

"बस बस! समझ लिया! तू इन दोनों को वकील बनाकर अपने प्राण बचाने आया है। जो मरने से नहीं डरता है तो इन्हें क्यों लाया। बोल अब भी जान प्यारी है तो भिक्षा माँग।"

बस नाग देवता के मुँह से ऐसी बात निकलते ही फिर तेजा को जोश आया। फिर वह ललकार कर कहने लगाः—"नहीं नहीं! ऐसा हरगिज़ न होने दूँगा! मैं ज़रूर अपने वचनों को पालूँगा। अगर सारा शरीर ही आपके डसने लायक़ नहीं रहा है तो (जीभ निकाल कर) इसे डसिये महाराज! यह अछूत है।"

"अच्छा आपको एक के साथ तीन जान लेनी है तो भले ही डसें।" इस तरह बोडल के मुख से और "मालिक मर जाय तो मुझे भी जीकर क्या करना है।" यों घोड़ी के कहने पर तेजा ने अपनी जीभ फैलाई और तब नागराज ने तेजा की जीभ का ख़ून पीकर अपना कलेजा ठंढा किया। इस तरह जब वह अच्छी तरह तृप्त हो चुका तब बोडल से बोलाः—

"तुम (घोड़ी की ओर संकेत करके) हम तीनों के लिए अपने मेरे और तेजा लिए एक ही चिता तैयार करो। इस बहादुर

सच्चे तेजा के साथ तू तो जलेहीगी, सात फेरे की औरत है परन्तु मैं भी जलूँगा। मैंने सारी लीला इसी लिए की है। एक ही चिता में तीनों के भस्म हो जाने बाद तेजा की पूजा तेजा के नाम से और देलवाल जी के नाम से होगी। हमारे मंदिर में जो मूर्त्ति पधराई जायगी उसमें तेजा, उसके गले में मैं और पास तू खड़ी हुई होगी। घोड़ी तेजा की अवश्य होनी चाहिए क्योंकि यह उसे बहुत प्यारी थी परन्तु यह भी अगर यहाँ मर मिटेगी तो तेजा के घर पर ख़बर देने कौन जायगा, और वहाँ पहुँचे बिना मेरा काम सिद्ध क्योंकर होगा ?"

जब बोदल ने पूँछा "आपका काम कौन सा ?" तो नागराज ने उत्तर में कहा कि—"वही हमारी पूजा होने का। इसी मतलब से मैंने इसे डसा है। मतलब मेरा यही है कि तेजा के नाम पर जो कोई आदमी या जानवर को "डसी" बाँध देगा उसपर साँप के काटे का असर बिलकुल न होगा। बस इस तरह नाम अमर करके लोगों का सैकड़ों पीढ़ियों तक उपकार करने के लिए—हज़ारों लाखों जीवों के प्राण बचाने के लिये यह कौतुक है।"

"अच्छा महाराज! आपकी इच्छा" कह कर बोदल चुप हो गई। तब उसने पति का मस्तक अपनी गोदी में से उतार कर एक साफ़ सुथरी सी जगह पर धरती में लिटाया। पति को लिटाने के बाद उसने हँसते हँसते प्रसन्न होकर जंगल की लकड़ियाँ इकट्ठी कीं। यों चिता तैयार की। कहीं से तलाश करके चिता में आग दी और जब नीचे से वह अच्छी तरह जल उठी तब पति को उसपर लिटा कर लपक कर उसपर चढ़ बैठी। पति का मस्तक अपनी गोदी में रख कर बड़ी दृढ़ता के साथ बैठ गई। उसकी आँखों में आँसू की एक बूँद नहीं। मुख पर उदासी की बिलकुल झलक नहीं। बस मुख कमल पर मुसकुराहट, आँखों में मीठी मीठी हँसी और जबान पर भगवान के नाम के साथ पति के चरणों में टकटकी। जलते जलते उसने माता पिता को शाप अवश्य दिया कि। "तू सुअरी होजा और तू खोभड़ा।" क्रोध के मारे उसकी ज़बान से इतना निकला सो निकला। उसने भाई को फलने फूलने का, अन्न धन बढ़ने का आशीर्वाद भी दिया। किन्तु आनन्द के साथ अपने कर्तव्य पालन से प्रसन्न होते हुए—मानो आज अखंड ऐश्वर्य पा लिया—इस प्रकार के हर्ष से उसने सच्ची चिता के साथ पातिव्रत की अनंत ज्वाला में अपना सुख, अपना सौभाग्य, अपना शरीर और अपना प्राण तक होम दिया। ज़रा सी चिनगारी छू जाने पर जो सत्ताईस बार "सी सी" करती थी, जो मरने की गाली सुन कर मारने को दौड़ती थी उसने आज पैर जलने पर, हाथ जलने पर, शरीर जलने पर और मस्तक जल जाने पर एक बार "सी" तक नहीं की। लोग कहते हैं कि स्वामी की मुहब्बत स्त्री को विह्वल कर चिता में भस्म कर डालती है परंतु उसे स्वप्न में भी पति से प्यार करने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। विवाह के दिन यदि संयोग से दंपती की चार नज़रें हो गई हों तो याद नहीं। वे चार नज़रें दूधमुँहे बालक बालिका की थीं, किन्तु आज के सिवा दोनो एक दूसरे ने कभी नज़र भर देखा तक नहीं। तब प्रेम का वास्ता कैसा ? किन्तु जैसे तेजा ने अपने कर्त्तव्य की रक्षा के लिए, अपना नाम अमर कर जाने की इच्छा से, अपने प्यारे प्राणों की प्रतिज्ञा देवी को बलि चढ़ा दी उसी तरह बोदल ने आत्म-विसर्जन कर दिया। यों दोनों शरीर छोड़ देने पर भी मरे नहीं, जीते हैं। उनका यश उसी समय चिता की ज्वाला के साथ गगन-मंडल को भेदता हुआ स्वर्ग की अप्सराओं से गाया जाने लगा। बस इसी का यह परिणाम है कि अनेक वर्ष बीत जाने पर भी देवताओं की तरह उनकी पूजा होती है।

अध्याय ८

यों दम्पती की चिता में नागराज को भस्म कर देनेवाली ज्वालाएं "सूँ सूँ!" शब्द के साथ धुवें के हरकारों को आगे भेज कर जब आकाश

से सूर्य मंडल के भेदती हुई स्वर्ग के देवताओं द्वारा विष्णु भगवान के चरण कमलों में तेजा के, और बोदल के कर्तव्य पालन का नागराज की कामना का पैगाम पहुँचा रही थीं तब घायल घोड़ी ने अपने मालिक के चिर वियोग का मरणान्त दुःख आजीवन अपने हृदय में धारण कर माता लछमा (लक्ष्मी) के पास यह हृदय-विदारक शोक-संवाद पहुंचाने के लिये रास्ता लिया। घोड़ी बेशक घायल हो चुकी थी। उसके प्राण भी अपना सदा का अड्डा छोड़ कर कंठ में आ चुके थे। कदम कदम पर "यह गिरी, वह पड़ी" की हालत आ पहुँची थी। जब ऐसा बहादुर मालिक मर चुका था तब उसे जी कर ही क्या करना था? अब मरी तो मरी और घंटे भर बाद मरी तो मरी। परंतु यदि पैगाम पहुँचाने का कर्तव्य पालन करने से पहले ही मर जाय तो घोड़ी की जाति पर बट्टा लग जाय। उसका खेत ही कलंक का टीका लगने से बदनाम हो जाय। आज से फिर कभी कोई "सूर्य पुत्र" का भरोसा न करे।

शीघ्र गति में मोटर रेलवे और आकाशयान ने यदि घोड़े का आसन छीन लिया तो छीन लिया, जल्दी पहुँचने के काम में यदि लोग घोड़े घोड़ों को धिक्कार कर, उनका निरादर कर, विज्ञान की सवारियों पर चढ़ने में ही अपना सौभाग्य समझें तो उन्हें अधिकार है। परमेश्वर के न्यायालय के सिवा संसार में ऐसी अदालत कहीं नहीं है जहाँ अश्व जाति फरियाद करे। किन्तु आज कल की मोटर, रेल और आकाशयान घोड़े के पैरों की भी बराबरी नहीं कर सकते। दोनों में दिन रात का सा, धरती आकाश का सा और कौड़ी मोहर का सा अंतर है। वे निर्जीव हैं और यह सजीव। वे हृदयशून्य हैं और इसका अंतःकरण स्वामिभक्ति और अपने कर्तव्य पालन से "लबालब" भरा हुआ है। मोटर, रेल और आकाशयान आदि सवारियाँ जिन विद्वानों की बनाई हुई हैं अथवा जो उनके स्वामी हैं उन्हें भी उनकी चूक का दंड देने से कभी नहीं चूक सकते। उनके यहाँ ज़रा सी चूक के लिये प्राण-दंड है। उनका भयंकर कुंभकर्णी कोप सैकड़ों हज़ारों को बात की बात में विनष्ट कर डालता है। किन्तु घोड़ा! घोड़ा संसार में अपनी बराबरी नहीं रखता। उसके समान स्वामिभक्त, संसार में उससे अठगुना मूल्य पाकर अठगुना ख़र्च करानेवाला हाथी नहीं। स्वामिभक्ति का सार्टिफिकेट पानेवाला कुत्ता तक नहीं। कुत्ता चाहे कितना ही मख़मल के गद्दे पर क्यों न लिटाया जाय परंतु गोली की चटाचट और तलवार की खचाखच होते ही दुम दबा कर अलग। किन्तु अच्छा घोड़ा मरने मारने के समय मैदान के बीच। वह जैसे रणभूमि में मालिक के साथ मर मिटने के लिये तैयार है वैसे ही सवार के प्राण बचा कर निकाल ले जाने में भी चतुर। उस की नस नस में वीरता, उसके अंतःकरण में स्वामिभक्ति और उसके हृदय में मनुष्य के समान प्रेम। मनुष्य के हृदय से भी बढ़कर। मनुष्य का हृदय स्वार्थपूरित, और उसके हृदय में प्रेम के सिवा स्वार्थ का लेश भी नहीं।

बस इन गुणों से ओत प्रोत भरी हुई लीला अपने मालिक के भस्म हो जाने की ख़बर लेकर रूपनगर में अपनी बूढ़ी मालिकिन के दर्वाज़े पर जा हिनहिनाई। "हैं बेटा आगया? घोडी तो अपनी ही है, चलो अच्छा हुआ। बहू को भी ले आया होगा। अच्छी बात है। फलो फूलो।" कहती हुई बेटे-बहू के मुखदर्शन की लालसा से, आनन्दसागर में गोते खाती सीढियाँ उतर कर मकान से बाहर हुई। उसने घोड़ी देखी किन्तु सवार नहीं। उसका सारा शरीर लहू लुहान। गोली की मार से कई जगह शरीर छिद रहा है। तीर जो बदन में घुस रहे हैं उन्हें कोई निकालनेवाला नहीं। "बस, हाय गज़ब हो गया! हाय रे बेटा! मैं तो तुझे पहले ही मना करती थी" यों कहती हुई मालिकिन मूर्छित होकर एक तरफ़ और अपने कर्तव्य से निवृत्त होकर धड़ाम से घोड़ी दूसरी तरफ गिर गई। धड़ाम धड़ाम की दो बार आवाज़ें सुनकर घर के, बाहर के, मुहल्ले के सब दौड़े हुए आये। वास्तव में पैगाम देनेवाला कोई